[ 'साहित्य-मण्डल' की दूसरी किताब ]

# महापाप

[ महात्मा टॉलस्टॉय-लिखित दो कहानियाँ ]



दाम डेढ़ रुपया।

# महापाप

( पहला संस्करण )

[ अगस्त १९३१ ]



प्रकाशक

साहित्य-मण्डल,

दिल्ली।

रूस के महान् कलाकार महात्मा टॉल्स्टॉय का अधिक परिचय देना आवश्यक नहीं। भारत में जो स्थान रवि बाबू और गाँधीजी का है, रूस में वही टॉल्स्टॉय का समझा जाता है। उन्होंने सभी विषयों पर लिखा है, और सफल हुए हैं! कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध-इत्यादि—जो-कुछ उन्होंने लिखा है, मोतियों को तोल भी महँगा है!

टॉल्स्टॉय का जन्म ९ सितम्बर सन् १८२८ को हुआ, और देहान्त २० नवम्बर सन् १९१० को। सब से पहले उन्होंने सत्रह कहानियाँ लिखकर साहित्य-जगत् में पदार्पण किया। इन सत्रह कहानियों को वे अपनी साहित्यिक वर्ण-माला कहते थे। इस समय 'कला के लिये कला'-ही उनका उद्देश्य था। उक्त १७ कहानियों में-से 'पोलीकुश' अन्तिम है, जो फ़रवरी सन् १८६३ में प्रकट हुई। लेखक का उद्देश्य दूतला के चरित्र में साफ़ झलकता है। पाठक देखेंगे, कि रात में भूत से डर जाने के कारण-ही यद्यपि उसने अपने भतीजे को छुड़ाने का इरादा किया था, तोभी ईगर गुमाश्ते के पास जाकर उसके मुँह से असल बात न निकल सकी, और उसने अपने स्नेह और सौजन्य की-ही डींग हाँकी!

इसी प्रकार इस कहानी के प्रत्येक पात्र में पाठक हर जगह स्वाभाविकता की पुट पायेंगे।

'पोलीकुश' टॉल्स्टॉय की अप्रसिद्ध रचनाओं में-से है। परन्तु रूस के सुप्रसिद्ध साहित्यिक तुर्गनेव ने इसके विषय में एक बार अपने एक मित्र को लिखा था—

"......तुम्हारे जाने के बाद मैंने टॉल्स्टॉय की 'पोलीकुश' पढ़ी। मैं तो उसकी असाधारण मेधा और प्रतिभा का बल देखकर दङ्ग रह गया! लेकिन उसने आवश्यकता से अधिक मसाला ख़र्च कर डाला है; यह खेद की बात है, कि उसने बच्ची को डुबाकर मार डाला! इससे कहानी बहुत-ही भयानक बन गई! लेकिन इसमें ऐसे अंशों का अभाव नहीं है, जिन्हें 'अद्‌भुत' कहा जा सकता है! शुरू से आख़िर तक उसे पढ़ते-पढ़ते कई बार मेरा शरीर थर्रा उठा, यद्यपि तुम जानते हो, मैं काफ़ी सख़्त बन चुका हूँ। टॉल्स्टॉय वाक़ई उस्ताद है—उस्ताद है!"

तुर्गनेव की सम्मति से हमें इत्तिफ़ाक़ है। जहाँ कहीं हमने ऊबा देनेवाला विस्तार देखा, हमने उसे कुछ संक्षिप्त करने की धृष्टता की है! लेखक की आत्मा को हमारे इस अधिकार-हीन कृत्य से तकलीफ़ हो सकती है, पर हम मजबूर थे; सभी बातों का ज्यों-का-त्यों अनुवाद देना हमारे पाठकों को कदापि रुचिकर न होता। जान पड़ता है, टॉल्स्टॉय ने विचारों की तह तक डूबकर इस कहानी को

लिखा है, और ऐसी अवस्था में अनावश्यक विस्तार हो-ही जाता है।

दूसरी कहानी Kreutzer Sonata का अनुवाद 'महापाप' के नाम से किया गया है। यह कहानी सन् १८८९ में प्रकट हुई। इस समय तक लेखक War and Peace ( युद्ध और शान्ति )-जैसे कई बड़े-बड़े उपन्यास लिख चुके थे, और जीवन पर दूसरे पहलू से विचार करने लगे थे। कहानी-रूप में लिखी होने पर भी Kreutzer Sonata को कहानी नहीं कहना चाहिये। यह तो समाज को चेतावनी देने-वाला एक ऐसा ऊँचे दर्जे का उपदेश है, जिसका प्रवेश दुनियाँ के बच्चे-बच्चे के कानों में होना चाहिये। इस कहानी के विषय में प्रत्येक विदेशी भाषाओं में बहुत-कुछ टीका-टिप्पणी हुई है। हम देखना चाहते हैं, कि हिन्दी-संसार इसके विषय में क्या विचार प्रकट करता है। हमें तो केवल यही कहना है, कि अबतक इस कहानी का अनुवाद हिन्दी में न होना, राष्ट्र-भाषा की एक बहुत बड़ी कमी थी, और यह हमारे साथ-ही समस्त हिन्दी-भाषा-भाषियों का सौभाग्य है, कि आज यह कहानी प्रकट हो रही है।

अनेक सज्जनों का यह विचार है, कि अनुवाद बिल्कुल अविकल होना चाहिये, जिससे मूल-लेखक के अनुवाद में भाव ग़लत न हो जायँ। इसमें शक नहीं, कि मूल-लेखक के भावों की रक्षा का पूरा ध्यान रक्खा जाना चाहिये, पर यह

हमें सम्भव और आवश्यक दिखाई नहीं देता, कि अनुवाद ज्यों-का-त्यों हो। बहुत-सी बातें ऐसो होती हैं, जिनका प्रभाव और सम्पर्क स्थानीय और सामयिक पदार्थों या घटनाओं से होता है; अंग्रेजी में इन्हें Local interest की बातें कहा जाता है। ऐसी बातें अन्य-देशीय पाठकों की समझ और दिलचस्पी से परे होती हैं, और उनक अविकल अनुवाद हो, तो लेखक की असली प्रतिभा अनायास-ही ढँक सकती है। अतएव हमारा विश्वास है, कि मूल-लेखक के भावों की रक्षा का पूरा ध्यान रखते हुए, बहुत-सी बातों के अनुवाद में स्वच्छन्दता बर्ती जाय, तो यह क्षम्य-ही नहीं, मूल-लेखक की सच्ची सेवा है। हमने जगह-जगह पर ऐसी स्वच्छन्दता-से काम लिया है।

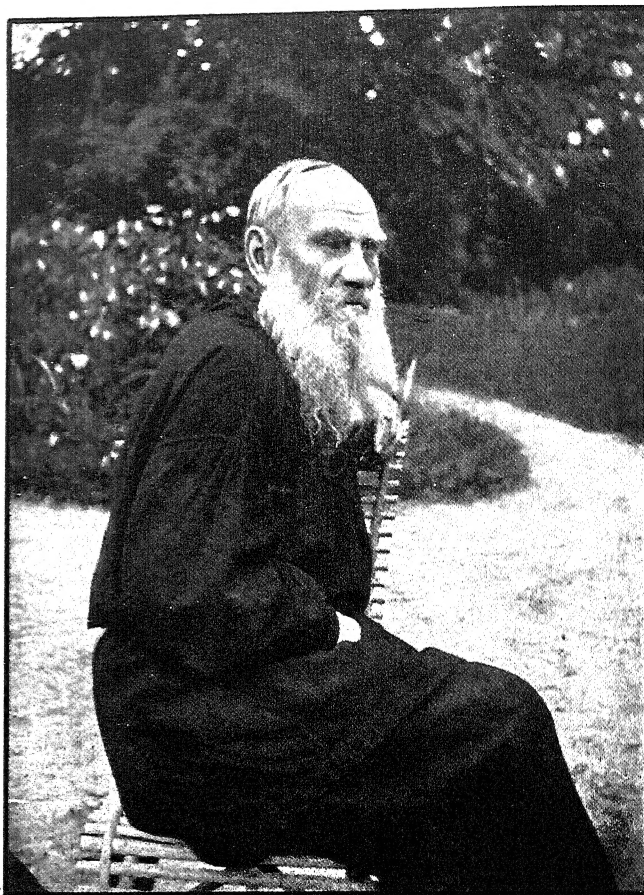
एक बात अपनी पुस्तकों की भाषा के सम्बन्ध में हमें और कहनी है। हमने जो यह अनुवाद-सम्बन्धी आयोजन किया है, इसमें बहुत-कुछ राष्ट्र-भाषा के हित का विचार निहित है। इसमें ज़रा-भी सन्देह नहीं रहा, कि निकट-भविष्य में, स्वतन्त्र-भारत की राष्ट्र-भाषा अवश्य-ही हिन्दी होगी। पर संस्कृत मिली हुई कठिन हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में देखने की कल्पना यदि कोई सज्जन करें, तो यह उनकी भूल होगी। हमें तो विश्वास है, कि भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाओं के अनेक शब्दों की मिलावट राष्ट्र-भाषा में होगी, और हमारी आज की हिन्दी का नया और सरल

संस्करण-ही राष्ट्र-भाषा के रूप में प्रकट हो सकेगा। यही सोचकर हमने अपनी पुस्तकों की भाषा को शुरू से वैसा रूप देने का निश्चय किया है, जिसमें समस्त भारत उसे स्वीकार करेगा।

आशा है, हिन्दी-सेवी हमारे सद्‌विचार की दाद देंगे।

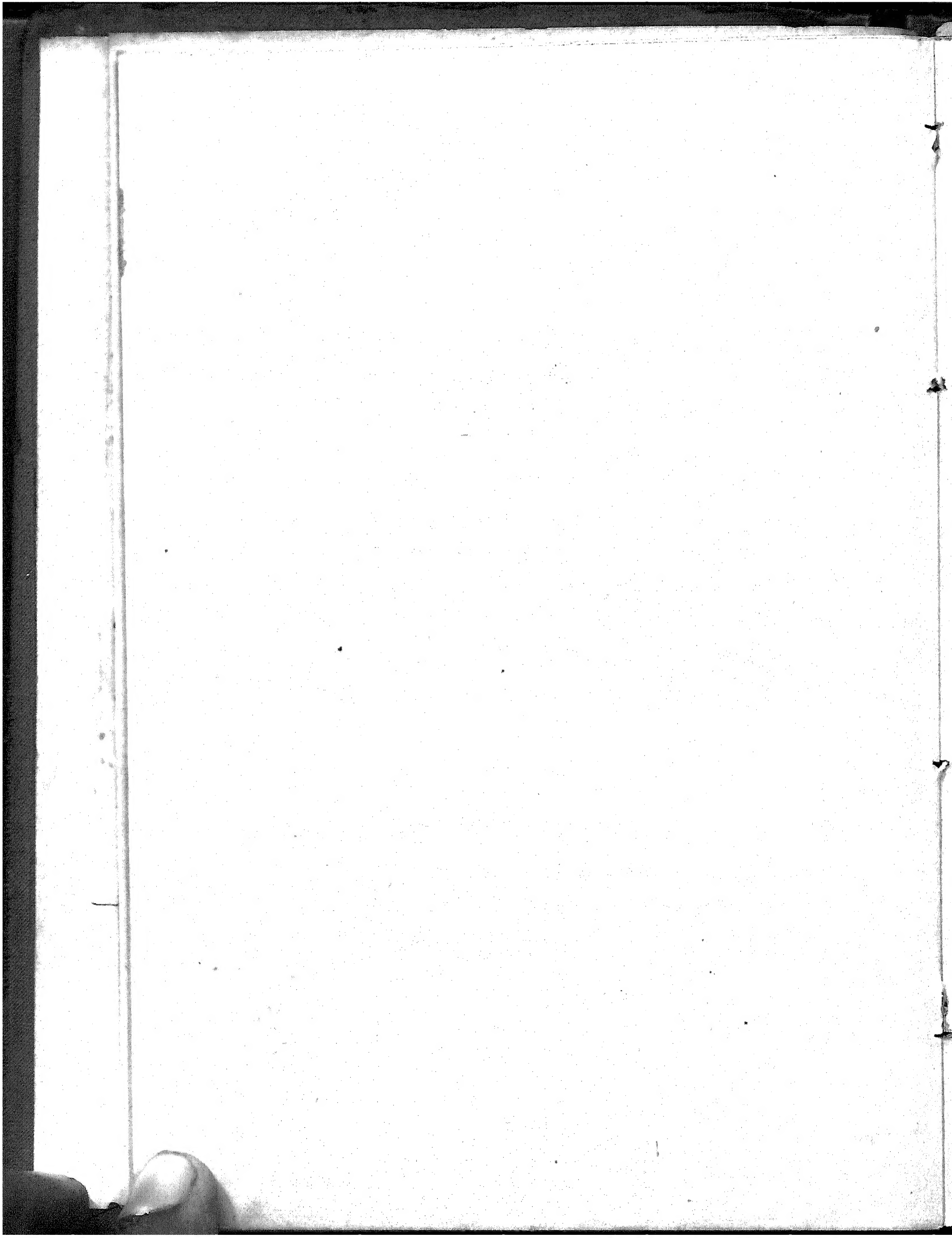
---

महापाप



महात्मा टाल्स्टाय

# रँगरूट



"अब यह तो आपकी मर्ज़ी रही सरकार! मगर बात यह है, कि दतला-परिवार में-से कोई गया, तो अफ़सोस की बात होगी। बेचारे बहुत-ही अच्छे आदमी हैं! अगर महल के नौकरों में-से कोई नहीं जायगा, तो ज़रूर उन बेचारों में-से किसी को जाना पड़ेगा!"

और उसने अपना दाँया हाथ बाँये पर टेक लिया, सिर को दाँयें कन्धे की तरफ़ झुका लिया, पतले ओठ मुँह में खींच लिये, आँखें ज़रा घुमालीं, और मुँह से और-कुछ नहीं कहा। इस भाव से ऐसा प्रकट होता था, कि वह बिना जवाब-दिये, मालिकिन के सब ऊल-जलूल फ़रमान धैर्य्य-पूर्वक सुनता रहेगा।

यह गुमाश्ता अपनी मालिकिन से कुछ कहने-आया है, चेहरा उसका सफ़ा-चट्ट है, और गुमाश्तों की ख़ास काट का कोट इसके शरीर पर है। पतझड़ का मौसम है, और शाम का वक़्। फ़ौज की भर्त्ती के विषय में बात चल रही है। मालिकिन की ज़मींदारी में-से तीन आदमी भेजे जाते हैं। दो का प्रबन्ध तो होगया,—बचा तीसरा; उसी का झमेला है। इलाक़े के किसानों में दतला-परिवार-ही ऐसा है, जिसमें तीन युवक फ़ौज में भेजे जाने-लायक़ हैं। पर गुमाश्ता इनको बचाकर पोलीकुश को भेजना चाहता है।

पोलीकुश कौन है ? महल का एक नौकर जो अपनी गन्दी आदतों के लिये बदनाम है। अकसर उसे शराब, घास या और कोई चीज़-बस्त चुराते पकड़ा गया है। पर मालिकिन इतने पर भी उससे स्नेह करती है, उसके दुर्दशा-ग्रस्त बच्चों पर दया दिखाती है, और कभी-कभी बाइबिल के उद्धरण सुनाकर उसे सचाई और ईमान्दारी का उपदेश भी देती है। वह पोलीकुश को फ़ौज पर जाने देना नहीं चाहती, न वह यह चाहती है, कि दतला-परिवार सङ्कट में पड़े। और भला चाहे भी क्यों ? वह तो इस परिवार के किसी आदमी को जानती-पहचानती तक नहीं। पर न चाहने से क्या होता है, यह बात तो स्पष्ट-ही है, कि अगर पोलीकुश न गया; तो ज़रूर दतला-परिवार का कोई आदमी जायगा !

सोचते हुए कहने लगी—"मैं तो यह भी नहीं चाहती, कि बेचारे दतला-परिवार के लोग सङ्कट में पड़ें !"

गुमाश्ता कहना चाहता था—"तो फिर तीनसौ रूबल* खर्च कीजिये; दूसरा आदमी मिल सकता है।"—पर कह न सका।

बस, जब कह न सका, तो उपरोक्त भाव बनाकर चौखट के सहारे खड़ा होगया, और मुँह पर दीनता छिड़क-कर मालिकिन के हिलते हुए ओठों, और दीवार पर,

* रूसी सिक्का—क़रीब डेढ़ रुपये के बराबर।

तस्वीर के नीचे, नाँचती हुई उनकी परछाईं का निरीक्षण करने लगा। इस में पूरा सन्देह है, कि उसके शब्दों पर भी उसका ध्यान था। मालिकिन बहुत-देर तक बोलीं, और बहुत-कुछ कह गईं। यहाँ तक कि ईगर मिख़ालोविच (गुमाश्ता) को जम्हाई आने लगी। पर फ़ौरन्-ही वह सम्हल गया, और मुँह पर हाथ रखकर इस जम्हाई को खाँसी में बदल दिया। आख़िर जब मालिकिन का धारा-प्रवाह वक्तव्य समाप्त होता नज़र न आया, तो उस ग़रीब को डर हुआ, कहीं नींद न आ जाय! तब उसने क्या किया?—कि पहले उस टाँग पर बोझ-दिये खड़ा था, अब इस पर दे दिया। किसी तरह क़िस्सा ख़त्म हो, इसलिये बोला—"आपकी जैसी आज्ञा हो, मैडम, बात यह है, कि गाँव की पञ्चायत आज ठीक मेरे दफ़्तर के सामने जुड़ी है, इसलिये हमें जल्द कुछ निर्णय कर लेना चाहिये। ज़ार का हुक्म है, कि पहली अक्टूबर से पहले-पहले रँगरूट भर्त्ती करके शहर भेज दिये जयँ। किसान तो इसी बात पर ज़ोर दे रहे हैं, कि दतला-परिवार के अतिरिक्त और कहीं से कोई गुञ्जाइश नहीं है। पञ्चायत को आपके स्वार्थ की चिन्ता क्या होसकती है? दतला-परिवार का नाश भी होजाय, तो उसकी बला से! उन लोगों की मुफ़लिसी और तङ्गदस्ती से मैं वाक़िफ़ हूँ। इतने दिन मुझे आपके यहाँ गुमाश्तागिरी करते होगये, मैंने तो हमेशा-ही उन बेचारों को दाने-दाने का मोहताज पाया। अभी पिछले साल से छोटा भतीजा ज़रा

कुछ कमाने-क़ाबिल हुआ है, कि लोग उनका नाश करने पर उतारू होगये ! अगर यह लड़का चला गया, तो आपका लगान भी शायद-ही पट सके ! आप जानतो हैं, मैं तो आपका सेवक हूँ और अपने से ज़्यादे आपके हित का खयाल रखता हूँ।......अब आपकी जैसी इच्छा हो...... अपनी ऐसी-तैसी में जाय दतला-परिवार, मुझे भला क्या ज़रूरत पड़ी, उतनी वकालत करने की ! मेरे कौन-से रिश्तेदार लगते हैं ! न उन्होंने मुझे कुछ शीरनी दी है !...मुझे क्या ग़र्ज़...?"

"ईगर, ऐसी बात क्यों कहते हो, मेरे मन में तो ऐसा खयाल भी नहीं गुज़रा," मालिकिन ने बात काटकर कहा, और उसी क्षण उसे सन्देह होगया—कि ज़रूर दतला ने ईगर की मुट्ठी गर्म की है !

"जी, मैं तो इसलिये कहता था, कि इलाक़े-भर में दतला-जैसा किसान दूसरा नहीं है। बड़ा-ही मेहनती और सच्चा खान्दान है। बूढ़ा दतला तो तीस बरस से बे-नाग़ा गिर्जे में जाता है। शराब तो कभी छूता-तक नहीं, और मुँह से आज-तक दुश्मन को भी 'अलिफ़ से बे' नहीं कहा, और सब से बड़ी बात, जो मैं आपसे कहना चाहता हूँ यह है, कि बुड्ढे के लड़के सिर्फ़ दो-ही हैं, तीसरा तो भतीजा है, जिसे वह धर्म के नाम पर अपने घर में आश्रय दिये हुए है। एक बात और है। बहुत-से लोगों ने क्या चालाकी की

है, कि अपने लड़कों के अलग घर बसा दिये हैं, और इस तरह वे मुसीबत से बच गये। यह ग़रीब भोला-भाला है, उसे कुछ छल-छिद्र आता नहीं। बस उसकी भलमनसी और धार्मिकता का यह नतीजा हुआ, कि……"

पिछला अंश मालिकिन के कानों में नहीं पड़ा। उसकी नज़र तो गुमाश्ते के कोट के बटनों पर थी। ऊपर का बटन मज़बूती से सिला हुआ था, बीच का उधड़कर गिरना-ही चाहता था। पर, नज़र चाहे कहीं थी, ईगर का भाव मालिकिन ने समझ लिया; बोली—"बड़े ताज्जुब की बात है, कि तुमने अभी तक मेरा मतलब नहीं समझा! अरे भाई, मैं यह कब चाहती हूँ, कि दुतला-परिवार का कोई आदमी जाय? मगर बात यह है, तुम जानते हो, जो लोग मेरे आश्रय में आते हैं, और मेरे यहाँ नौकरी करते हैं, मैं उनकी भलाई का ध्यान रखना अपना धर्म समझती हूँ, और उनकी विपत्ति में अपना सब-कुछ न्यौछावर करने को तैयार रहती हूँ।"

मैं नहीं जानता, कि गुमाश्ते के दिल में यह ख़याल आया या नहीं, कि पोलीकुश की रक्षा करने के लिये सर्वस्व न्यौछावर करने की ज़रूरत नहीं, सिर्फ़ तीन-सौ रूबल काफ़ी हैं! पर, अगर आया भी होगा, तो मालिकिन से यह बात कहने का साहस उसे कभी नहीं हुआ होगा!

"बस, मुझे तो यही कहना है।" वह बोली—"मैं किसी तरह भी पोलीकुश को नहीं दे सकती। देखो, वह जो घड़ी

की चोरी का मामला था, उसमें उसने खुद-ही आकर मुझ से माफ़ी माँगी, अपना अपराध स्वीकार किया, घण्टों बैठा रोता रहा, और आइन्दा कोई शिकायत न देने की क़स्म खाई। वह दिन था, और आज है—सात महीने बीते—कभी तो उसने प्रमाद नहीं किया, कभी शराब से बेहोश नहीं हुआ, और हमेशा, हर-काम चुस्ती और लगन के साथ करता रहा। उस दिन उसकी औरत कहती थी, कि अब उसमें ज़मीन-आस्मान का अन्तर होगया है। बताओ, अब जब उसने अपना इतना सुधार कर डाला है, तो मैं उसे ऐसी कड़ी सज़ा देती अच्छी लगूँगी ? इसके अतिरिक्त मैं तो ऐसे आदमी को सिपाही बनाना पाप समझती हूँ, जो पाँच बच्चों का बाप हो; और अकेले जिसपर सब के पालन का भार हो ! ......नहीं, ईगर, अब इस बारे में तुम कुछ कहो-ही मत।"

कहकर मालिकिन ने ग्लास में सोडा उँडेला, और पीना शुरू कर दिया। उधर वह घूँट भर रही थी, इधर ईगर, बुत्त की तरह खड़ा, उसके गले की हड्डी का हिलना देख रहा था।

थोड़ी देर बाद बोला—"तो फिर दतला........का-ही निश्चय रहा ?"

मालिकिन ने हाथ मलकर कहा—"क्या अच्छी बात है—समझते-ही नहीं ? क्या मैं दतला के बुरे में हूँ ? मुझे उससे कुछ बैर है ? भगवान् साक्षी हैं, मैं तो उसके लिये

जो-कुछ कर सकूँ, करने को तैयार हूँ। (मज़े की बात यह कि तीन सौ रूबल की बात उसके दिमाग़ में भी न आई!) बस, अब बताओ, मैं क्या करूँ। मैं इस मामले में जानूँ भी क्या?—जान भी कैसे सकती हूँ?—मैं औरत-जात! चलो ख़ैर, अब तो तुम पर-ही विश्वास रखकर मुझे सन्तुष्ट होना पड़ेगा......! बस, जो तुम ठीक समझो, करो...पर ऐसा करना, जिसमें सभी ख़ुश रहें—मेरा तो यही कहना है! और किया भी क्या जाय? दतला से कह सकते हो, कि मुसीबत सभी पर आती है!......हाँ देखो, पोलीकुश को न भेजना,...वह किसी सूरत में नहीं जा सकता! याद रक्खो, उसे भेजने का विचार करते-ही मेरा दिल धड़कने लगता है। बेचारा......"

उसका धारा-प्रवाह वक्तव्य न-जाने कब जाकर ख़त्म होता, कि सहसा एक दासी ने कमरे में प्रवेश किया।

"क्या है, दनियाशा?"

"एक किसान ईगर मिख़ालोविच से यह पूछने आया है, कि पञ्चायत कब तक उनके इन्तज़ार में बैठी रहे।"

—कहते-कहते उसने क्रोध-पूर्ण नेत्रों से ईगर की तरफ़ ताका, और मन-ही-मन कहा—"दुष्ट कहीं का! जान पड़ता है, मालिकिन को नाराज़ कर दिया है। अब देख लेना, जो रात के दो बजे-तक भी हम लोगों को नींद की झपकी नसीब हो जाय!"

मालिकिन ने कहा—"तो, जाओ ईगर, जाकर जो उचित समझो, निपटारा कर दो!"

"बहुत अच्छा सरकार" दतला के सम्बन्ध में अब उसने एक शब्द भी न कहा—"मगर हाँ, देखिये, उस फलवाले से रुपया लाने के लिये किसे भेजा जाय?"

"पीटर अभी शहर से नहीं लौटा?"

"जी नहीं।"

"निकोलस को भेज दो।"

"पिताजी तो नदी पर काम करने भेजे गये हैं," दनियाशा ने टोककर कहा।

"तो फिर सरकार, मैं-ही जाऊँ कल?" गुमाश्ता बोला।

"ना, ईगर, तुम्हारी तो यहाँ ज़रूरत रहती है," मालिकिन ने सोच में पड़कर कहा—"कितना रुपया है?"

"चार सौ बासठ रूबल!"

"पोलीकुश को भेज दो!" मालिकिन ने निश्चयात्मक दृष्टि से ईगर का मुँह देखते हुए कहा।

ईगर ने एक बार ओठ फैलाये, जैसे हँसना चाहता हो। पर तुरत सम्हलकर वहीं-का-वहीं रह गया, और ओठ न ज़रा इधर हटे, न उधर।

बोला—"जो हुक्म, सरकार!"

"बहुत-अच्छा;" और ईगर मिख़ालोविच दफ़्तर की तरफ़ चल दिया।

२

पोलिको (विरक्त होकर लोग जिसे पोलीकुश कहा-करते थे ) बड़ा अभागा था। इज्ज़त उसकी कौड़ी-बराबर न थी, गाँव का रहने-वाला नहीं था, और गुमाश्ता, नौकर, दासी कोई उसे फूटी-आँख न देख सकता था! परिवार में सात प्राणी थे, और घर ऐसा निकृष्ट कि जिसकी हद ! एक लम्बे सहन को सायबान से पाट दिया गया था, और लकड़ी की दीवारों से काटकर चार छोटी-छोटी कोठरियाँ बना दी गई थीं। कोने-वाली कोठरी पोलिकी की थी। बाक़ी तीन में और लोग रहते थे। एक टूटी हुई चारपाई, तीन टाँग की मेज़, थोड़े-से फटे-गूदड़े, और कुछ मिट्टी के बर्त्तन—यही इस अभागे परिवार का सामान था। अक्टूबर के महीने से जब ठण्ड शुरू होती थी, तो इन लोगों की दुर्दशा और भी बढ़ जाती थी। कुल जमा में एक भेड़ की खाल थी, जिससे ओढ़ने का काम लिया जासकता था। पर उसे कौन-कौन ओढ़ता ? अब सर्दी दूर करने के लिये छोटे बच्चे तो इधर-से-उधर दौड़ लगाकर वक़्त बिताते, और बड़े दिन-भर सख़्त काम करते रहते। रात को चूल्हे में ख़ूब आँच सिलगाकर सब-के-सब बिना कुछ ओढ़े-बिछाये-ही पड़ रहते। इस तरह दिन बीतते थे! ऐसी दशा में रहना हमें आपको भयानक भले-ही लगे, मगर उन ग़रीबों को ज़रा महसूस तक न होता था। अकुलीना, पति और बच्चों के कपड़े धोती-सीती, सिलाई करती, कातती, बुनती, और अन्य मज़दूरी

के काम करती। पति-पत्नी की, और बच्चों की आमदनी से किसी तरह गुज़ारा चलता था। अगर यहीं तक होता, तो कुछ रोना न था। एक सबसे बड़ी तकलीफ़ और थी। पोलिकी बचपन में संयोगवश एक नामी चोर के फन्दे में पड़ गया। यह चोर एक दिन साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया। इस चोर की शागिर्दी में रहकर पोलिकी भी इधर-उधर 'हाथ साफ़ करने' का अभ्यस्त होगया। यहाँ-तक कि समझदार होने पर भी यह आदत छुट न सकी। माँ-बाप थे नहीं, सीख कौन देता ? बस शराब भी पीने लगा, और चोरी का तो यह हाल, कि जहाँ बैठता, कोई-न कोई चीज़ साफ़ उड़ जाती ! चाहे वह चीज़ कैसी-ही निरर्थक और तुच्छ हो, पोलिकी को इससे गर्ज़ नहीं, उसे तो अपने हाथ की सफ़ाई दिखाने से काम था !

पर, मस्ल मशहूर है, कि बारह बरस में कूड़ी के भाग भी जागते हैं। अस्तु, पोलिकी के सुधरने का भी मौक़ा आया, औरत उसे अच्छी मिल गई। उसने दिन-रात उसे समझाना शुरू किया। आदत तो उसकी न छुटी, पर मन में आगा-पीछा ज़रूर होने लगा। उधर एक बार वह चोरी-करते पकड़ा गया। पहले तो उसे लानत-मलामत दी गई, एकाध चाँटा भी रसीद किया गया। फिर मामला पहुँचा मालिकिन के पास। अब उस पर नज़र रक्खी जाने लगी। दूसरी बार फिर पकड़ा गया, तीसरी बार फिर। लोगों ने उससे

नफ़रत करनी शुरू करदी, गुमाश्ते ने रँगरूटों में भेज देने की धमकी दी, मालिकिन ने डाँट-डपट की, और उसकी औरत हिल्की भर-भरकर रोई। सब तरफ़ से ले-दे, ले-दे मच गई। वैसे आदमी बुरा नहीं था, पर कमज़ोर तबियत का था, और आदत से लाचार था। हालत यह थी, कि कभी शराब से बेहोश होकर घर आता, और उसकी स्त्री उसे गालियाँ बकती, या कभी धौल-धप कर बैठती, तो वह रोकर कहता— "हाय! मैं बड़ा अभागा हूँ, मैं मरता भी तो नहीं! मेरी आँखें फोड़दे, जिससे फिर मैं ऐसा काम न करूँ!" तब मुश्किल-से एक महीना राज़ी-खुशी बीता, और एक दिन हज़रत फिर होगये ग़ायब! दो दिन बाद शकल दिखाई, तो वही शराब से पागल बनकर। पड़ौसियों ने कहा—"अभागे को फिर कहीं से मिल गया पैसा!" सब से पिछली दुर्घटना घड़ी के सम्बन्ध में थी। बहुत-दिनों से एक टूटी हुई दीवार-घड़ी दफ़्र में लटक रही थी, संयोगवश पोलिकी की नज़र उसपर पड़ गई। फिर क्या कहना था? उसीदम उड़ गई! दुर्भाग्य की बात! जिस दूकान्दार को उसने घड़ी बेची, वह महल के एक नौकर का रिश्तेदार था। एक दिन जब वह मिलने आया, तो घड़ी की सारी बात खुल गई। ख़बर यथा-समय मालिकिन के पास पहुँची, और पोलिकी को उनके सामने पेश किया गया। वह जाते-ही उनके पैरों पर गिर पड़ा, और कातर स्वर में सब कुछ क़बूल लिया।

उसकी स्त्री ने जिस तरह कहा था, ठीक उसी तरह उसने मालिकिन से माफ़ी माँगी। मालिकिन शुरू से-ही उस पर—या कहें, उसके औरत-बच्चों पर—अनुग्रह रखती आई थी। अतएव इसबार भी पोलिकी को माफ़ी मिल गई, और मालिकिन ने घण्टों उसे पास बैठाकर दया, धर्म, सच्चाई और सादगी के विषय में उपदेश दिया। यह उपदेश मानों उसके दिल में उतर गया, और पोलिकी ज़ार-ज़ार रोने लगा। मालिकिन बोलीं—"मैं तुम्हें क्षमा कर सकती हूँ, पर एक शर्त्त पर, कि भविष्य में कभी किसी तरह की शिकायत का मौक़ा न मिले!"

"कभी नहीं माँ, कभी नहीं!" पोलिकी ने रोते-रोते कहा—"असल माँ-बाप का बेटा हूँ, तो कभी ऐसा मौक़ा न दूँगा!"

उठकर वह घर चला गया, दो दिन तक कुछ न खाया-पिया, और इसके बाद उसका जीवन-ही बदल गया।

तोभी उसका-जीवन सुखमय न था हरेक आदमी उसे चोर कहता, और उससे घृणा करता था, और सारे नौकर-चाकर उसे रँगरूट बनाकर भेज देने के पक्ष में थे।

---

## ३

उस दिन शाम को, जब दफ़्र के सामने बैठी, ग्राम-पञ्चायत रँगरूटों की भर्ती का निर्णय कर रही थी, पोलिकी अपने बिछौने के कोने पर बैठा हुआ था। बच्चे सब अएटा-ग़ाफ़िल हो चुके थे। दो अँगीठी के सामने सुकड़े पड़े थे, दो बिछौनों में दबक रहे थे, और एक उस चटाई के पीछे झपकी ले रहा था, जिसपर बैठी हुई अकुलीना सूत कात रही थी। आले पर मोमबत्ती धरी जल रही थी।

पोलिकी ने पतलून की जेब से लकड़ी की चिलम निकाली, और हुक़्क़े पर जमाने लगा। अकुलीना उठकर गई, और तम्बाकू लाकर चिलम भरी। पोलिकी ने आँखें मींचकर धुआँ खींचा, और मज़े ले-लेकर हुक्क़ा पीने लगा।

सहसा दर्वाज़ा खुला, और महल की एक दासी ने भीतर प्रवेश किया। इसका नाम अद्वतका था, और वह इधर-उधर की दौड़-धूप के लिये नौकर रखी गई थी। बड़ी फ़ुर्तीली लड़की थी! चलती थी, तो जान पड़ता था—मानों गोली छुटी जा रही है। दोनों हाथ घड़ी के पेण्डुलम की तरह आगे की तरफ़ इधर-उधर घूमा करते थे, और शरीर में कहीं ज़रा-सा मुड़ाव नज़र न आता था। गाल उसके सदा लाल-सुर्ख़ रहते थे, और ज़बान उसकी इस तेज़ी-से चलती थी, कि बस! अस्तु, कमरे में घुसते-ही उसने झट

अँगीठी उठाली, और उसे लिये-लिये कमरे में इधर-से-उधर चक्कर लगाये। तब उसने हाँफते-हाँफते, रुक-रुककर, अकुलीना से कहना शुरू किया—"मालिकिन ने ......हुक्म दिया है......कि पोलिकी इसी-दम उनके सामने हाज़िर हो......कहा है......कि ज़रा भी देर न लगे......"

क्षण-भर ठहरकर उसने साँस लिया।

"ईगर मिख़ालोविच......बहुत देर से......मालिकिन से बातें कर रहा था......रँगरूटों की भर्ती के......सम्बन्ध में......बातचीत कर रहा था।......पोलिकी का नाम... भी लिया गया था। मालिकिन ने आज्ञा दी है, किपो लिकी इसी-दम......उनके सामने हाज़िर हो।"

अपनी बात समाप्त करके अक्षतका ने आधी मिनट के भीतर-भीतर पोलिकी, अकुलीना और बच्चों पर नज़र डाल ली, और चिल्लाकर कहा—"इसी-दम हाज़िर हो......इसी दम!"—और तब पेण्डुलम की तरह आगे-आगे हाथ हिलाती हुई झट-से चल दी।

अकुलीना फिर उठो, फटे हुए छेददार बूट लाकर स्वामी के आगे रक्खे, खूँटी पर से कोट उतारा और स्वामी के चेहरे पर दृष्टि-पात किये बिना-ही उसकी तरफ़ बढ़ा दिया। पूछा—"क़मीज़ तो नहीं बदलोगे?"

"नहीं।" उसने जवाब दिया।

पोलिकी ने बूट चढ़ाये, कोट पहना। पर अकुलीना ने

एक बार भी उसकी तरफ़ न देखा। न देखा तो अच्छा-ही किया, क्योंकि पोलिकी का चेहरा ज़र्द पड़ गया था, दाँत कटकटाने लगे थे, और उसके निर्बल नेत्रों में वह भयानक, दयनीय और दीनता-पूर्ण भाव था, जो अक्सर दुर्बल-हृदय अपराधियों में नज़र पड़ता है। उसने बालों में कङ्घी की, और बाहर चला। पर उसकी पत्नी ने उसे रोक लिया। कोट के भीतर से क़मीज़ के कपड़े का एक रङ्गीन सूत लटक रहा था, और सिर पर टोपी भद्दे ढङ्ग से रक्खी हुई थी। अकुलीना ने सूत को कोट के नीचे छिपा दिया, और टोपी ठीक-से रख दी।

सहसा पड़ौस में रहने-वाली बढ़ई की औरत ने पूछा—"क्या बात है पोलिकी—क्या तुम्हें मालिकिन ने बुलाया है?"

बढ़ई की औरत बड़ी ज़बान्दराज़ और लड़ाकी औरत थी। उसी दिन सुबह अकुलीना से झगड़ा करके चुकी थी। अब पोलिकी के जाने की बात सुनकर उसे एक मतलब की बात याद आगई। बोली—"मालूम होता है, मालिकिन तुम्हें चीज़ें ख़रीदने के लिये शहर भेजेंगी। देखना, ज़रा-सा काम मेरा भी है; आधसेर चाय लेते आना!"

अकुलीना की आँखों में क्रोध-से आँसू आने को हो गये। पर उसने ज़ब्त किया, और ओंठ भींचकर मुँह की बात मुँह में-ही रक्खी। दुनियाँ के स्वार्थ पर उसे बड़ी

घृणा हुई। उसका स्वामी तो फ़ौज में जा रहा है, वह क़रीब-क़रीब विधवा होने-वाली है, उसके निर्दोष बच्चों के भूखे मरने की तैयारी है, और पड़ौसिन को अपनी चाय की-ही फ़िक्र है! उसने खिन्न होकर मुँह बिछौने में छिपा लिया।

"अरी अम्माँ! तूने तो भींच दिया हमें!" ख़र्राटे भरती हुई छोटी बच्ची ने चिचियाकर कहा।

अकुलीना एकबारगी कष्ट-विह्वल होकर बोली—"तुम मर क्यों नहीं जातीं—सब-की-सब! हाय! मैंने तुम्हें इस दुनियाँ में सिर्फ़ कष्ट भोगने के लिये-ही पैदा किया है!"

—कहती-कहती वह ज़ोर-से रोपड़ी। बढ़ई की औरत के ओठों पर हँसी की रेखा खिंच गई। सुबह की गालियाँ उसे भूली नहीं थीं!

४

आध घण्टा बीत गया। बच्चे ने रोना शुरू कर दिया। अकुलीना ने उसे उठाया, और दूध पिलाने लगी। अब उसकी आँखों में आँसू न थे। दुबला-पतला ख़ूबसूरत चेहरा हथेली पर टेके, वह टिपटिपाती हुई मोमबत्ती की तरफ़ स्थिर नेत्रों से ताक रही थी, और सोच रही थी—कि क्यों उसने ब्याह किया?—क्यों फ़ौज में इतने सिपाहियों की ज़रूरत पड़ती है?—इत्यादि।

सहसा स्वामी का पद-शब्द सुन पड़ा। आँखें पोंछकर उठ खड़ी हुई। पोलिकी किसी बहादुर सिपाही की तरह

सीना ताने हुए कमरे में घुसा, टोपी ला-पर्वाही से बिस्तर पर फेंक दी, और ज़ोर-ज़ोर से साँस लेता हुआ कमर की पेटी खोलने लगा।

"क्यों, किस लिये बुलाया था?"

"हूँ! बेशक! पोलीकुश सब से बुरा आदमी है!...... मगर जब काम-ही करना हुआ, तो अच्छा-बुरा......"

"क्या काम—कैसा काम?"

पोलिकी ने जवाब देने में जल्दी न की। खूब ज़ोर-से थूका, और जेब से पाइप निकालकर दो-एक कश खींचे। तब बड़े इत्मीनान-से बोला—"शहर से थोड़े रुपये लाने हैं।"

"रुपये लाने हैं?" अकुलीना ने पूछा।

पोलिकी खाँसा, और सिर हिलाकर बोला—"वाह! बड़ी-ही भली-मानस है! बोली—'लोग तुम्हें बुरा-बुरा कहते हैं; लेकिन मैं सब से ज़्यादा तुम्हारा विश्वास करती हूँ। तुमने मुझसे वादा किया था, कि तुम अपना सुधार करोगे। लो, तुम्हारी परीक्षा अवसर आ पहुँचा। तुम शहर के फल बेचनेवाले के पास जाओ, और जो रुपया हमारा उसकी तरफ़ निकलता है, वह सब-का-सब ले आओ।' मैंने भी क्या बढ़िया जवाब दिया है—सरकार, हम तो आपके गुलाम हैं; जो हुक्म दोगी, सर-आँखों से बजा लायेंगे।" कहते-कहते वह अजीब तरह से मुस्कुराया। और कहने

लगा—"फिर वह बोली, 'ईमान्दारी और होशियारी से काम करोगे न ?......याद रखना, उसी पर तुम्हारी तक़दीर का फ़ैसला है, मैंने कहा— 'भला ईमान्दारी से क्यों नहीं करूँगा ? अगर लोगों ने तरह-तरह की बातें बककर मुझे बदनाम किया है, तो किया करें—उनके कहने से मैं कोई बदनाम थोड़ा-ही हो जाऊँगा ? मैंने तो जबसे आपके सामने तौबा की है, फिर उस तरह का विचार भी मेरे दिमाग़ में नहीं आया।' मतलब यह, कि मेरी सच्ची बातों का अभीष्ट असर मालिकिन पर हुआ, और उन्होंने बड़े स्नेह-पूर्वक मुझे विदा किया।"

"तो क्या रुपया ज़्यादा है ?"

"चारसौ बासठ रूबल !" पोलिकी ने ला-पर्वाही से जवाब दिया।

अकुलीना ने सिर हिलाया और कहा— "कब जाओगे ?"

"कल। मालिकिन ने कहा है—'अस्तबल में-से चाहे जिस घोड़े को छाँटकर लेजाना।' बस, कल सुबह-ही चल दूँगा।"

"धन्य भगवान् !" अकुलीना ने सिर उठाकर कहा—"भगवान् हम पर बड़े दयालु हैं। वे आगे भी तुम पर कृपा करेंगे।"—तब उसने फुसफुसाकर कहना शुरू किया—"पोलिकी, मेरी बात सुनो। मैं तुम्हें भगवान् ईसा की

सौगन्ध दिलाती हूँ, कि रस्ते में शराब की बूँद को हाथ न लगाना।"

अजी वाह !" पोलिकी ने बड़ी अक़्लमन्दी-से कहा— "इतना रुपया साथ होते हुए शराब पीऊँगा ! भगवान् का नाम लो, जोखिम सिर पर होगी, और ऐसी ग़फ़लत करूँगा।"

और तब दोनों ख़ुशी-ख़ुशी पड़कर सोगये।

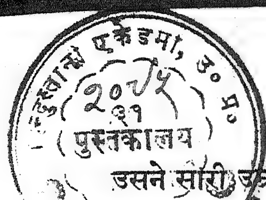
५

इधर दफ़्र के सामने जो गाँव की पञ्चायत बैठी थी, उसमें बड़ा गुल-गपाड़ा मच रहा था। बात मामूली नहीं थी। आस-पास के सभी किसान मौजूद थे। जिस वक़्त गुमाश्ता मालिकिन से बातें कर रहा था, तो वे लोग अपनी-अपनी बात लेकर इस ज़ोर-से चिल्लाते थे, कि आवाज़ अकसर महल तक पहुँच जाती थी।

बोल तो बहुत-से रहे थे, लेकिन थियोडोर रेज़न बढ़ई सब से बाज़ी लेगया। उसके परिवार में दो युवक बालिग़ थे, तोभी वह दतला पर बरस रहा था। बूढ़ा दतला भी अपने बचाव में सब-कुछ कहने से चूकता न था, और मानों ख़म ठोककर क़तार से आगे निकल खड़ा हुआ था। कभी हाथ फैलाकर, कभी दाढ़ी सहलाकर, इस तरह अनाप-शनाप बकता था, कि ख़ुद उसी की समझ में न आता था, कि वह

क्या कह रहा है। उसके लड़के-भतीजे, जवानी से भरपूर बुत की तरह चुपचाप, पीछे खड़े थे। ऐसा जान पड़ता था, मानों चील-झपट्टे का खेल हो रहा है। रेज़न उस पर प्रहार-पर-प्रहार किये जारहा था। बल्कि अकेला रेज़न-ही क्यों, जिस-जिस के घर में जवान लड़के थे, सभी दतला को फटकार रहे थे, झगड़ा इस बात पर था, कि तीस साल पहले दतला का भाई भर्त्ती होकर गया था, और लड़ते-लड़ते मारा गया था। इसके बदले में दतला यह चाहता था, कि चाहे उसके परिवार में तीन बालिग़ युवक हैं, उसे उन्हीं लोगों की तरह बख़्शा जाय, जिनके दो लड़के हों।

दतला के अतिरिक्त, कुल ज़मींदारी में, चार आदमी और ऐसे थे, जिनके तीन बालिग़ लड़के थे। इन में-से एक तो मुखिया था, जो मालिकिन की आज्ञानुसार छोड़ दिया था, दूसरे के यहाँ से पिछले साल-ही एक आदमी रँगरूट बना-कर भेजा जाचुका था, और बाक़ी दो में-से इस साल एक-एक लिया गया था। दोनों रँगरूटों में-से कोई इस पञ्चायत में आया भी नहीं था। एक की स्त्री अलग कोने में खड़ी, आशा-भरे हृदय से देख रही थी, कि शायद कोई आक-स्मिक घटना होजाय, और भाग्य का पलड़ा उसकी तरफ़ झुक जाय। दूसरे रँगरूट का पिता, फटा कोट पहने, दुश्चिन्ता में डूबा हुआ, अलग खड़ा था। जितने किसान पञ्चायत में मौजूद थे, दतला सब-से-ज़्यादे साहूकार था।






उसने सारी उम्र रुपया कमाने में गँवाई थी, और अब आस-पास उसका काफ़ी आदर-सम्मान था। यही कारण था, कि उसकी एक-एक बात को सब लोग ध्यान-पूर्वक सुन रहे थे?

रेज़न बढ़ई का रँग काला, और क़द लम्बा था। इलाक़े-भर में उसका नाम मशहूर था। चलते-चलते लड़ाई मोल लेना, उसकी आदत में दाख़िल था। मतलब-बेमतलब, राह-बाट में, पञ्चायत में, हर किसी से झगड़ पड़ना उसके बायें हाथ की बात थी। इसलिये लोग उसके मुँह न लगते थे, और न उसकी बातों में दख़ल देते थे। इस वक़्त वह पूरे ज़ोर, और पूरी तेज़ी-से दतला को डाँट-फटकार रहा था। बूढ़ा दतला भी अपनी गम्भीरता से हाथ धोकर जवाब-पर-जवाब दिये जा रहा था।

पञ्चायत में और भी बहुत-से आदमी मौजूद थे। मौक़ा पड़ा, तो आगे कभी इन लोगों का परिचय आपसे कराऊँगा। सभी इस तरह चुपचाप खड़े थे, मानों गिर्जे में प्रार्थना सुन रहे हों। दतला के लड़के-भतीजे भी उसके पीछे अ-बोल खड़े थे। बड़ा लड़का इगनट तीस बरस का हो चुका था; दूसरा वालिसी भी, विवाहित था; तीसरा उसका भतीजा एलिजा था, जिसका ब्याह हुए, अधिक दिन नहीं गुज़रे थे। एलिजा, गुलाबी रँग का एक ख़ूबसूरत जवान था। नया हैट और कोट डाटे, बेफ़िक्री से खड़ा, गाल खुजा रहा

था। वाहरे दुर्भाग्य! उस ग़रीब को क्या पता—कि सारा नज़ला अन्त में उसी पर पड़ेगा!

रेज़न ने कहा—"यह फ़िज़ूल का तर्क है! भाई अगर एक बार फ़ौज में चला गया, तो क्या और कोई जावे-ही नहीं? पिछले-ही साल की बात है, बेचारे मिविविच को जाना पड़ा, यद्यपि उसका सगा चचा तब-तक जीता-जागता फ़ौज में मौजूद था।"

"तुम्हारे वाप-दादा ने भी कभी ज़ार की ख़िदमत की है?" दतला डाँटकर बोला—"और तुम्हीं ने कौन-सा तीर मारा है! न कभी मालिकिन के काम आये, न पञ्चायत के! सारा वक़्त बकवास और मटर-गश्ती में बिता देते हो! ख़ुद तुम्हारे लड़के तो तुम्हारी ज्यादितियों के तङ्ग आकर अलग होगये, अब दूसरे के लड़कों को लड़ाई पर भेजने के लिये कहते तुम्हें शर्म नहीं आती! जानते हो, बन्दे ने पूरे दस साल तो पुलीस की नौकरी की है, उन दिनों की मुसीबत का अन्दाज़ा मैं-ही कर सकता हूँ, और दो बार मेरे घर में आग लग चुकी है—उस वक़्त कोई माई का लाल मेरी मदद को न आया। अब ज़रा भगवान् ने मेहर की नज़र की है, और दोनों वक़्त भर-पेट रूखी-सूखी रोटी मिलने लगी है, तो आप लोग मेरे सर्वनाश पर तुल गये हैं।......
भाइयो, ज़रा इन्साफ़ कीजिये, मेरा भाई लड़ता-लड़ता मारा गया, अब अगर मैं थोड़ी रियायत चाहता हूँ, तो क्या

अनुचित करता हूँ ? इस दीवाने शराबी की बातों पर आप न जाइये।"

इतने में रेज़न के साथियों में-से एक महाशय बोल उठे—"तुम जो बार-बार अपने भाई की बात गाये जाते हो, सो क्या तुम्हें पता नहीं, कि उसे पञ्चायत की तरफ़ से नहीं भेजा गया था, बल्कि उसकी गन्दी हरकतों की वजह से खुद ज़मींदार ने भेजा था। समझे ? इसलिये पञ्चायत पर तुम्हारा कोई अहसान नहीं होसकता !"

इसकी बात पूरी-सी ख़त्म न हुई थी, कि एक और शुरू होगई—"यह कही है बात ठिकाने की ! मालिक-लोग चाहे-जिसे भेजें, पञ्चायत का इस में क्या क़ुसूर है ? अब फ़र्ज़ करो, पञ्चायत ने तुम्हारे लड़के को भेजना स्थिर किया है, तो तुम्हें यहाँ ज़बान्दराज़ी न करके सीधे मालिकिन के पास जाना चाहिये। मुमकिन है, वे तुम पर दया करें। उनके आगे हम लोगों की क्या चल सकती है ? मुझे-ही देखो, चाहे मैं अपने घर में अकेला मर्द हूँ, लेकिन मालिकिन की आज्ञा होगई, तो बिना कान-पूँछ हिलाये मुझे जाना पड़ेगा।...... समझे ?" कहने-वाले का स्वर कड़वा होगया, और हाथ हिलाते हुए वह पीछे हट गया।

बहुत-सों ने एक-साथ कहा—"यह बात ! यह बात !"

उधर रेज़न ने ताने-से कहना शुरू किया—"कहिये ज-नाब, क्या यह सभी दीवाने शराबी हैं ? क्यों, क्या आपने

कभी मुझे पिलाई है शराब ? या तुम्हारे साहब-ज़ादे मुझे शराबी कहते हैं—जिन्हें ज़माना तड़के-तड़के सड़क के किनारे बेहोश पड़ा देखता है ?...भाइयो, आप लोग इन्साफ़ करें, और ज़रूर करें, तीन को छोड़कर आप दो-वाले के हक़ में फ़ैसला दें, बल्कि दो भी क्यों—किसी ऐसे को चुनें, जो अपने घर में अकेला-ही हो। हाहा ! हाहा ! तब दतला-साहब के साथ ठीक इन्साफ़ होगा !"

"फ़िज़ूल की बात है ! दतला को एक-न-एक भेजना पड़ेगा !" सब लोगों ने एक-साथ कहा।

सहसा किसी ने कहा—"पहले तो यह देखिये, कि मालिकिन क्या कहती हैं। सुनते हैं, कि वे महल के किसी नौकर को भेजना चाहती हैं।"

इस बात से कुछ देर के लिये शोर बन्द होगया। लेकिन शीघ्र-ही फिर शुरू होगया, और व्यक्तिगत कटाक्ष और प्रहार होने लगे।

इगनट, जिसके विषय में रेज़न ने कहा था, कि लोग उसे तड़के-तड़के सड़क के किनारे बेहोश पड़ा देखते हैं, बड़ा क्रुद्ध हुआ, और कहने लगा, कि रेज़न ने एक दफ़ा किसी बढ़ई के औज़ार चुरा लिये थे, और जब वह शराब पीकर बेहोश होता है, तो पशुओं की तरह अपनी औरत को पीटता है !

रेज़न ग़ुस्से-से लाल होकर आगे बढ़ा, और पूछा—"किसने चुराया ?"

"तुमने।" इगनट भी एक क़दम आगे बढ़ गया।

"किसने?……तुमने नहीं—?" रेज़न क्रोध-विह्वल होकर बोला।

"नहीं; तुमने।" इगनट ने दृढ़ता-से जवाब दिया।

अब तो बात औज़ारों से बढ़कर एक घोड़े, मेवे की बोरी-इत्यादि बहुत-सी चीज़ों-तक पहुँच गई। इन दोनों ने क्रोध में भरकर वह-वह बीभत्स बातें कहीं, कि अगर उनका सौवाँ हिस्सा भी सच होता, तो न्याय की दृष्टि में वे साइबेरिया भेजे जाने के अपराधी थे।

इधर बूढ़े दतला ने अपनी रक्षा की एक और तरकीब निकाली। उसने चिल्लाकर इगनट को तो किसी तरह शान्त किया, और पञ्चायत के आगे तर्क पेश किया, कि जिनके तीन लड़के घर पर मौजूद हों, सिर्फ़ उनके विषय में-ही फ़ैसला नहीं होना चाहिये, बल्कि जिन्होंने अपने लड़कों के अलग घर बसा दिये हैं, उन्हें भी विचारणीय समझा जाय!

"वाह! यह कैसे हो सकता है? क्या लोगों ने जान-बूझकर अपने जिगर के टुकड़ों को अलग कर दिया है? परिस्थिति-ही ऐसी थी। अब उनमें-से किसी को भेजकर क्या उसके बीबी-बच्चों की दुर्दशा के गड्ढे में धकेलना है!" जिन-जिन लोगों ने अपने लड़के अलग कर दिये थे, सब एक-साथ बोल उठे।

"देखो दतला, अगर तुम वास्तव में अपने लड़कों को नहीं भेजना चाहते, तो एवज़ी में किसीको भेजने का प्रबन्ध करदो। तुम्हारे पास धन है, तुम आसानी-से ऐसा कर सकते हो!"

दतला ने अपना कोट शरीर के इर्द-गिर्द कसकर लपेटा और मुर्दों का-सा मुँह बनाकर पीछे हट गया।

"जैसे तुमने मेरा धन अपनी आँखों से देखा है!" उसने नाराज़ होकर कहा—"देखें भला, ईगर मिख़ालोविच क्या ख़बर लाता है।

६

ऐन उसी वक्त ईगर मिख़ालोविच महल से बाहर आया। एक-साथ बहुत-से सिर ऊपर उठे, और जैसे गुमाश्ते की नज़र सब पर पड़ती थी, इस तरह एक-साथ-ही सब की टोपियाँ उतरकर हाथों में आगईं। ईगर मिख़ालोविच आगे बढ़ा। साफ़ मालूम होता था, कि कुछ कहेगा। उसके हाथ लम्बे कोट की सामने-वाली जेबों में लापर्वाही से ठुँसे हुए थे, टोपी उसकी माथे-तक झुकी हुई थी। दोनों टाँगें फैलाये आकर बड़ी शान के साथ खड़ा हुआ। जितने लोग वहाँ बैठे थे, सब, उत्सुकता-पूर्वक उसके मुँह से आवाज़ निकलने की बाट देखने लगे। जब वह मालिकिन के सामने खड़ा था, तब में और अब में बड़ा भेद था। वह दब्बूपन और दह-

शत ग़ायब होगई थी; जैसे बाहर की हवा लगकर पर निकल आये थे !

"मालिकिन का यही फ़ैसला है, भाइयो—कि महल का कोई नौकर न भेजा जाय। वे चाहती हैं, कि भर्त्ती आप-ही लोगों में-से हो। कौन-कौन जायें, इसका निर्णय आप स्वयं करें। इस दफ़ा तीन आदमियों की ज़रूरत है। हिसाब से तो इस इलाक़े के हिस्से में ढाई आदमी-ही आते हैं, पर आधा अगली बार मुजरा लेलिया जायगा। बात एक-ही है, आज न सही, कल सही।"

"बेशक ! आपका फ़रमाना बजा है !" बहुत-सी आवाज़ें एक-साथ निकलीं।

"मेरे ख़याल में," ईगर ने कहा—"ख़युश्किन और वास्कामित्युख़िन को तो जाना-ही पड़ेगा। भगवान् की ऐसी-ही इच्छा जान पड़ती है।"

"बेशक ! बिल्कुल ठीक !" आवाज़ें फिर निकलीं।

"......तीसरा या तो दतला-परिवार में-से कोई होना चाहिये, या फिर किसी दो-आदमियों के परिवार में-से...... आपका क्या ख़याल है ?"

"दतला ! दतला !......" सब चिल्ला उठे—"उसके तीन लड़के बालिग़ हैं !"

और फिर, क्रमशः, शोर बढ़ने लगा, और वही मेवे के बोरे, और औज़ारों की चोरी की बातें दोहराई जाने लगीं।

ईगर मिख़ालोविच करीब बीस साल-से ज़मींदारी का काम सम्हाले हुए था, और अपने काम में ख़ूब माहिर और अनुभवी होगया था। पाव घण्टे-तक चुप खड़ा, वह इस शोर-शराबे को देखता-सुनता रहा! तब उसने सब को एक-दम चुप होजाने का हुक्म दिया, और दतला के भतीजे और बेटों से, चिट्ठियाँ डालकर किसी एक को स्थिर करने के लिये कहा। चिट्ठियाँ तैयार की गईं, और एक टोपी में डाल कर मिला-जुला ली गईं। तब एक आदमी ने आँख मींच-कर एक चिट्ठी उठाली। खोलकर देखा गया—तो एलिजा का नाम था! सब-के-सब ख़ामोश होगये।

"क्या मेरा—? देखूँ भला!" एलिजा ने काँपती आवाज़ में कहा।

सब-के-सब चुप बैठ रहे। ईगर मिख़ालोविच ने आज्ञा दी, कि सब लोग भर्त्ती का चन्दा लावें। यह पुरानी रीति थी, कि जब भर्त्ती होती थी, तो फ़ी घर सात कोपेक चन्दा वसूल किया जाता था। तब पञ्चायत अगले दिन के लिये बर्ख़ास्त की गई। भीड़ छटने लगी। लोगों ने कोना पार करते-ही टोपियाँ सिर पर रखलीं। धीरे-धीरे उनकी बात-चीत और चलने की आवाज़ भी लुप्त होगई! गुमाश्ते ने कुछ देर तक जाती हुई भीड़ पर दृष्टि-पात किया, और तब जा-कर कोने पर पहुँचे हुए दतला की पीठ पर हाथ रक्खा। दोनों जाकर दफ़्तर में बैठे।

"मुझे बड़ा अफ़सोस है भाई दतला," ईगर ने मेज़ के सामने एक कुर्सी पर बैठते हुए कहा—"क्या करूँ, कोई उपाय-ही न था!···अब बोलो, एलिजा की एवज़ी के लिए जिस आदमी का प्रबन्ध किया जासकता है, तुम उसकी क़ीमत देने को तैयार हो, या नहीं ?"

बूढ़ा बोला कुछ नहीं, सिर्फ़ स्थिर नेत्रों से ईगर को ताकता रहा।

"अब और कोई उपाय नहीं, है," मानों इस स्थिर दृष्टि के उत्तर में ईगर ने कहा।

"एवज़ी में आदमी ख़रीद सकता, तो मैं बड़ा सुखी होता, ईगर मिख़ालोविच, पर क्या करूँ, मेरी स्थिति तो इस क़ाबिल नहीं। पिछली गर्मियों में दो घोड़ों से हाथ धो-चुका हूँ, और अभी-अभी भतीजे की शादी से निबटा हूँ। ···सच बात तो यह है, कि भगवान् के यहाँ इन्साफ़ नहीं··· यह हमारे ईमान्दारी से रहने का नतीजा है! उसने जो-कुछ बुरा-भला कहा, उसके लिये बेचारे को क्यों दोष दूँ, और क्यों बुरा मानूँ ? (उसका इशारा रेज़न की तरफ़ था।)"

ईगर ने चेहरे पर हाथों का रगड़ा दिया, और जम्हाई ली। जान पड़ता था, कि इस झमेले से वह तङ्ग आचुका है, और अब चाय पीना चाहता है।

बोला—"अरे, मर्दे आदमी, क्यों व्यर्थ की बातें बनाते

हो ! जाकर घर का फ़र्श थोड़ा खोदो; मैं दावे के साथ कहता हूँ, कि मिनट-भर में-ही चारसौ रूबल निकल पड़ेंगे। फिर एवज़ो के प्रवन्ध का सारा भार मुझ पर रहा।...कल-ही वह आदमी मेरे पास आया था।"

"क्या यहीं आया था ?" दतला ने पूछा।

"हाँ, बोलो, तैयार हो—खरीदने को ?"

"क्या बताऊँ, अगर ऐसा हो सकता, तो मुझे बड़ा हर्ष होता परमात्मा जानता है......क्या बताऊँ......"

"ईगर ने टोका और सख़्ती-से कहा—"अच्छा, तो सुनोगे बूढ़े, देखो, एलिजा ने अबतक कोई शरारत* नहीं की है, और आज या कल, जब मैं कहूँगा, उसे फ़ौरन् शहर ले जाया जायगा। तुम उसके साथ जाओगे, और उसके लिये तुम्हें पूरी ज़िम्मेवरी लेनी पड़ेगी। परमात्मा न करे, अगर रास्ते में कोई दुर्घटना हो गई, तो याद रखना, उसकी जगह तुम्हारे बड़े लड़के को जाना पड़ेगा। सुनते हो ?"

"लेकिन, आप चाहते, तो क्या दो-आदमी वाले घर से किसी को नहीं भेज सकते थे ?......ईगर मिख़ालोविच, यह अच्छी बात नहीं है !" वह बोला। क्षण-भर बाद-ही नेत्रों में आँसू भरकर बोला—"पहले तो मेरा भाई गया,

---

* अक्सर ऐसा होता था, कि बचने के लिये रँगरूट लोग, बन्दूक़ का घोड़ा पकड़नेवाली उँगली वग़ैरा, शरीर का कोई अङ्ग, काटकर अपने को फ़ौजी सेवा के अयोग्य बना देते थे।

और मेरा दायाँ बाज़ू तोड़ दिया गया, अब मेरे बच्चों पर शामत आई है। हाय! मैं इस सदमे को कैसे झेलूँगा!"— कहते-कहते वह ईगर के पैरों पर गिर पड़ने को हुआ।

"खैर, तो अपना रास्ता देखो," ईगर बोला—"कुछ नहीं हो सकता, क़ानून है; हँसी ठट्ठा नहीं। एलिज़ा पर नज़र रखना, तुम उसके लिये उत्तरदायी हो।"

दुतला लकड़ी टेकता-टेकता घर चला।

७

अगले दिन सुबह गजरदम, महल के सामने एक घोड़ा-गाड़ी खड़ी थी। आज पोलिकी की यात्रा होनेवाली थी। आज उसने धुले कपड़े पहने थे, पुराने ज़माने की एक टोपी निकालकर ओढ़ी थी, और गाड़ी में सब से अच्छा घोड़ा जोता था। अकुलीना और बच्चे ठण्ड से ठिठुरते हुए, गाड़ी के पास खड़े थे, पोलिकी भीतर गाड़ी में जा बैठा था। धीरे-धीरे महल के नौकर और दासियाँ आने लगीं। किसी ने सुइयाँ मँगवाई, किसी ने चाय, किसी ने तम्बाकू और किसी ने तेल। पड़ौसिन बढ़ई की औरत ने थोड़ी शक्कर की फ़र्मायिश की।

सब से निबटकर उसने कोट अच्छी तरह शरीर पर लपेटा, तली में पड़े हुए घास के गट्ठे को हिलाया-डुलाया, शरीर के कपड़ों को फिर सम्हाला, रास हाथ में थामी, और रवाना हो गया।

जाड़े की ऋतु थी, हवा खूब ठण्डी थी, और बर्फ़ की हल्की-हल्की बारिश हो रही थी। बर्फ़ की बौछार कभी उसके माथे पर, और कभी उघड़े हाथों पर आकर पड़ती। घोड़ा भी ठण्ड से ठिठुरता हुआ, कान पीछे हटाये, आँखें आधी-मींचे, दुलकी से चला जा रहा था।

सहसा बारिश रुक गई। क्षण-भरमें-ही मौसम साफ़ हो गया। बर्फ़ के गाले सड़क के किनारे पड़े दीखने लगे, और सूरज उभरता जान पड़ा। यह सब परिवर्तन होने पर भी पोलिकी गहरे विचारों में डूबा रहा। मालिकिन के विश्वास और स्नेह पर उसे बड़ा आनन्द प्राप्त हो रहा था। वह, जिसे पाजी ईगर और बाक़ी नौकर-चाकर फ़ौज पर भिजवाना चाहते थे, और जिसे सब दुरदुराया करते थे, और जिसे हमेशा सब से गन्दा और मुश्किल काम सौंपा जाता था, वही इस समय एक बहुत-बड़ी रक़म लाने शहर जा रहा है। और वह अस्तबल के सब से बढ़िया घोड़े, और ख़ास मालिकिन की गाड़ी पर बड़े आदमी की तरह शान-से सवार है। वाह! उसके गर्व का क्या ठिकाना! पोलिकी ने हर्ष-विह्वल होकर रास मज़बूती से थामी, कोट को और कसकर लपेटा, और गाड़ी में अकड़कर बैठ गया।

आज उसके गर्व का ठिकाना न था। भला पाँच-सौ रूबल की रक़म क्या ऐसी-वैसी होती है?—उसे लाने के लिये वह भेजा गया है! चारसौ बासठ रूबल अपने

कोट की जेब में रखने का मौक़ा उसे मिलेगा। अगर वह चाहे, तो घर जाने की बजाय और किसी तरफ़ जा सकता है, और इस रक़म से ख़ूब मौज की ज़िन्दगी बसर कर सकता है। पर नहीं, वह ऐसा करेगा नहीं; वह तो सब-का-सब रुपया बड़ी सावधानी से लाकर मालिकिन को सौंप देगा, और शेख़ी बघारेगा कि इससे भी ज़्यादा-ज़्यादा रुपया लाने का मौक़ा उसे मिल चुका है। पहली सराय आई, और घोड़ा अभ्यासानुसार ठिठका, तो पोलिकी ने चाबुक मार-कर उसे आगे बढ़ा दिया। अगली सराय आई, तो भी ऐसा-ही हुआ। दिन-ढले के क़रीब वह गाड़ी से उतरा। यह तीसरी सराय थी, और फलवाले की दूकान पास-ही थी। यहाँ उसने घोड़े को अस्तबल में भिजवाया, और ख़ुद खाना खाने पर डट गया। खाना खाते-खाते उसने आस-पास के लोगों पर यह अच्छी तरह प्रकट कर दिया, कि वह कैसे आवश्यक काम से आया है। तब, खा-पीकर, बिल और मालिकिन की चिट्ठी लिये हुए फलवाले के पास चला।

फलवाले ने (जो पोलिकी की बदनामी सुन चुका था) बड़े ध्यान-से मालिकिन का ख़त पढ़ा, और सन्दिग्ध स्वर में पोलिकी से जिरह करनी शुरू की। पोलिकी ने गुस्सा दिखाने की कोशिश की, लेकिन असफल रहा, और सिर्फ़ मुस्कुराकर रह गया। फलवाले ने फिर दो-एक बार ख़त पढ़ा, और तब आगा-पीछा सोचकर रुपया उसे दे दिया।

रुपया लेकर पोलिकी ने भीतरी जेब में रख लिया, और वापस सराय में आया। आज उसे बढ़िया-से-बढ़िया शराब ने भी आकृष्ट नहीं किया। उसके मन में आज एक अपूर्व गुदगुदी-सी हो रही थी। जिस दूकान में वह कोई अच्छी चीज़ देखता, खड़ा होजाता, और तब मन में यह कहकर चल देता—"ओह! मैं यह सब-कुछ ख़रीद सकता हूँ; पर इस वक्त ख़रीदना नहीं चाहता।" बाज़ार में घूमकर उसने सब की फ़र्मायिशों की चीज़ें ख़रीदीं, और हर्षित होता हुआ सराय में वापस आया। ब्यालू के बाद उसने घोड़े को नह-लाया, और कुछ दाना-चारा डाला। तब वह खाटपर चढ़कर बैठ गया, और जेब में-से चारसौ बासठ रूबल के नोटवाला लिफ़ाफ़ा निकालकर बहुत देर-तक देखता रहा। लिफ़ाफ़ा मामूली काग़ज़ का था, और चपड़े की साधारण मोहरें उसपर लगी हुई थीं। एक बीचों-बीच थी, और चार चारों किनारों पर। एक तरफ़ को पिघले हुए चपड़े की कुछ बूँदें गिर गई थीं। पोलिकी ने ध्यान-पूर्वक यह सब-कुछ देखा, और मन में बैठा लिया। यह विचार करके बार-बार उसका हृदय हर्ष-से नाँच उठता था, कि उसके हाथ में इतना धन है! उसने लिफ़ाफ़े को अपनी टोपी की पाड़ में खोंस लिया, और टोपी को सिर के नीचे रखकर सो गया। रात-भर उसे नींद न आई, और रह-रहकर वह लिफ़ाफ़े को छूकर देखता रहा। जितनी बार उसने उसे अपनी जगह धरा

पाया, उतनी-ही बार उससे मन में यह हर्षोन्मादक विचार आया, कि वह तिरस्कृत, लाञ्छित पोलिकी आज कैसा सौभाग्यशाली है!

८

आधीरात के क़रीब सराय के दर्वाज़े पर किसी ने दस्तक दी, और बाहर से बहुत-से किसानों का चीत्कार सुन पड़ा। यह वह लोग थे, जिनके साथ ज़ार की फ़ौज के रँग-रूट आरहे थे। कुल मिलाकर क़रीब दस आदमी थे। तीन तो रँगरूट, मुखिया, बूढ़ा दतला और कुछ सरकारी आदमी। कमरे में बत्ती जल रती थी, और सराय-वाली एक बेञ्च पर पड़ी, ख़र्राटे लेरही थी। आवाज़ सुनते-ही वह झट उठी, और एक मशाल जलाने लगी। पोलिकी भी उठ बैठा, और कमरे में घुसते हुए आगन्तुकों पर दृष्टि-पात करने लगा। सब-लोग भीतर आये, और बेञ्चों पर बैठ गये। सब-के-सब बिल्कुल शान्त थे। किसी अनजान के लिये यह अनुमान करना भी मुश्किल था, कि किसे भर्त्ती करके लेजारहे हैं, और कौन लेजारहे हैं। सभी मज़े-मज़े में बातें बना रहे थे, और हँस-हँसकर खाना माँग रहे थे। बेशक, कुछ लोग बिल्कुल चुपचाप बैठे थे, पर इसके प्रतिकूल कुछ बेतरह ख़ुश थे, और शराब के नशे में मदहोश होरहे थे। इन में-से एक एलिजा भी था, जिसे पहले कभी

शराब नसीब भी न हुई थी, और जो अब बेहद मात्रा में पी गया था।

"क्यों भाइयो, अब आराम करें, या कुछ खा-पी लें?" —मुखिया ने पूछा।

"खाना!" एलिजा ने कोट उतारकर, बेञ्च पर बैठते हुए कहा—"थोड़ी शराब मँगाइये।"

"बस, बहुत होचुकी शराब!" मुखिया ने संक्षेप में जवाब दिया, और तब और लोगों की तरफ़ मुड़कर कहा— "भाइयो, आप लोग चुपचाप थोड़ा-थोड़ा भोजन पालें, चिल्ला-चिल्लाकर क्यों बेकार दूसरे लोगों को नींद हराम करते हैं।"

"मुझे शराब दीजिये," एलिजा ने बिना किसी की तरफ़ देखे, जोश में भरकर कहा।

और लोगों ने मुखिया की सलाह के मुताबिक़ काम किया, गाड़ी में-से चुपचाप अपना खाना निकाल लाये, और निबट-निबटाकर कुछ ज़मीन में पड़ रहे, कुछ ने बेञ्चों पर लम्बी तानी।

अब एलिजा फिर चिल्लाया—"मुझे शराब दो—मैं कहता हूँ, मुझे शराब दो!"

तब अकस्मात् पोलिकी को देखकर चीख़ उठा— "पोलिकी! पोलिकी! ओहो दोस्त, तुम यहाँ कैसे? मैं तो भाई फ़ौज पर जारहा हूँ……माता और स्त्री से अन्तिम विदा

ले आया……हाय ! वे कैसी चिल्ला-चिल्लाकर रो रही थीं ! इन पिशाचों ने ज़बर्दस्ती मुझे सिपाही बना दिया है! लाओ, तुम्हीं कुछ शराब मुझे देदो।"

"मेरे पास तो दमड़ी भी नहीं है, भाई, मैं कहाँ से लाऊँ शराब ?" पोलिकी ने अनुभूति-पूर्ण होकर कहा—"घबराते क्यों हो ?—क्या जानें तुम छूट-ही जाओ।"

"ना भाई, मैं तो हमेशा-से हट्टा-कट्टा हूँ, कभी बुख़ार तक नहीं आया। छूटने की अब ज़रा भी आशा नहीं है। ज़ार को मुझ से अच्छा सिपाही कहाँ मिल सकता है भला ?"

पोलिकी ने उसे एक किसान की कहानी सुनानी शुरू की—कि कैसे पाँच रूबल नोट की गर्मी से डॉक्टर ने उसे छुड़वा दिया।

एलिजा आगे सरक आया, और दोनों में बे-तकल्लुफ़ी से बातें होने लगीं।

"ना, भाई पोलिकी, सब समाप्त हो चुका, मुझे भी अब घर जाने की लालसा नहीं है। चचा ने जो कुछ किया, अच्छा किया। भगवान् उनका भला करें ! मुझे मालूम है—कि वे लोगों से यह कहते फिरे हैं, मेरी एवज़ी के लायक़ उनके पास पैसा नहीं है।……नहीं ! नहीं ! उसे अपने पुत्र का तो मोह था, और पैसा उसे जान से प्यारा था, बस मुझ अभागे को बलिदान का बकरा बनाते उसे

दया नहीं आई ! नहीं, अब मैं कदापि वापस लौटना नहीं चाहता। (उसने अधिक खेद के कारण धीमे स्वर में कहा।) सिर्फ़ एक-ही मलाल रह गया है। मुझे माँ का बड़ा ख़याल है। मेरे-बिना वह कैसे दिन काटेगी ? हाय ! जब मैं चला था, तो वह और मेरी स्त्री कैसी फूट-फूटकर रोई थीं !! ओफ़् ! इन पापिष्ठों ने दुखियाओं का सर्वनाश कर दिया ! हाय ! मेरी स्त्री अब सिपाही की जोरू हो जायगी। अच्छा होता—अगर मेरी शादी न होती ! इससे कोई पूछे भला, उसने मेरी शादी-ही क्यों की थी ?······वे दोनों दुखिया कल यहाँ आयेंगी।"

"लेकिन, ये लोग तुम्हें इतनी जल्दी कैसे ले आये ?" पोलिकी ने पूछा—"मैंने तो कुछ सुना भी नहीं, यह अचानक······"

"क्यों, डरते थे न, कि कहीं मैं कुछ शरारत कर बैठूँ !" एलिजा ने अजीव तरह से मुस्कुराकर कहा—"मगर यह उनकी भ्रान्ति है ! मैं कोई शरारत नहीं करने का ! सिपाही बनकर जाने का भी मुझे कुछ विशेष दुःख नही है; मुझे तो सिर्फ़ माँ का खयाल······भला उसने मेरी शादी क्यों की ?"—उसने स्थिर और विषाद-पूर्ण स्वर में कहा।

सहसा दर्वाज़ा खुला, और बूढ़े दतला ने भीतर प्रवेश किया, टोपी उसने हाथ में ले रक्खी थी, और पैरों में बहुत बड़े-बड़े जूते थे। एलिजा की तरफ़ उसने नज़र झुकाकर देखा-तक नहीं, और एक बत्ती जलाने में लग गया।

चचा को देखते-ही एलिजा ख़ामोश हो गया, और विषाद-युक्त नेत्रों से बेञ्च के नीचे झाँकने लगा। तब मुखिया को लक्ष्य करके कहने लगा—"शराब चाहिये, शराब, थोड़ी शराब लाओ।" उसकी आवाज़ से निराशा और उन्माद का भाव प्रकट होता था।

"शराब, इस वक़्त ?" मुखिया ने जवाब दिया—"देखते नहीं, और सब लोगों ने थोड़ी-थोड़ी रोटी खाकर सब्र कर लिया ! तुम्हीं में ऐसे क्या लाल जड़े हैं, जो ख़ाम-ख़ाँ 'शराब-शराब' पुकारकर परेशान किये जारहे हो ?"

"मुखिया, अगर शराब न दोगे, तो मैं कुछ शरारत कर बैठूँगा।"

"तुम इसका दिमाग़ ठीक नहीं कर सकते ?" मुखिया ने दतला की तरफ़ घूमकर कहा।

एलिजा ने सिर झुका लिया, और बड़बड़ाकर कहा—"शराब ! दो······शरारत करूँ···!"

"होश में आओ, एलिजा !" मुखिया ने नरमी-से कहा—"बस, बहुत होचुका, अब होश करो !"

पर उसकी बात समाप्त होने के पहले-ही एलिजा कूदकर खिड़की के पास जा पहुँचा, और मुक्का मारकर पल्ले का शीशा तोड़ डाला। फिर बड़े ज़ोर-से चीख़कर बोला—"नहीं सुनते, तो यह लो।"

पोलिकी पलक-मारते अँगीठी के पीछे जा छिपा।

मुखिया बे-तहाशा एलिजा की तरफ़ दौड़ा, दतला ने धीरे-से बत्ती ज़मीन पर रख दी, और जोभ से आवाज़ पैदा करता हुआ एलिजा के पास जा पहुँचा। एलिजा, मुखिया और सराय के आदमियों के साथ खेंचा-तानी कर रहा था। उन लोगों ने उसे कसकर पकड़ रक्खा था, और खिड़की से अलग खींचने की सिर-तोड़ कोशिश कर रहे थे, लेकिन जैसे-ही उसने दतला को देखा, उसके शरीर में मानों दस-गुनी ताक़त आगई, और मुट्ठियाँ कसकर दाँत पीसते हुए वह आगे बढ़ा। बोला—"वहीं रह, ओ शैतान !······मैं तुझे मार डालूँगा ! तैंने मेरा सर्वनाश कर दिया !······तैंने मेरी शादी-ही क्यों होने दी ?······पीछे हट, पीछे ! मैं तुझे मार डालूँगा !"

एलिजा का स्वर बीभत्स हो उठा था। चेहरा उसका लाल-सुर्ख़ था, आँखें घूम रहीं थीं, और उसका पुष्ट शरीर ज़ोर-ज़ोर से थर्रा रहा था। ऐसा जान पड़ता था, कि वह अपना मुक़ाबला करने-वाले तीनों आदमियों की हत्या कर देगा।

वह दतला की तरफ़ देखकर फिर चिल्लाया—"नर-पिशाच ! तू अपने सगे भाई का रक्त पी रहा है !—सगे भाई का !!"

दतला का मुँह लाल हो उठा ! वह एक क़दम आगे बढ़कर बोला—"तो तुम सीधी तरह नहीं मानने के ?"—

कहते-कहते उसने आश्चर्य्य-जनक तेज़ी के साथ एलिजा को कसकर पकड़ लिया, और मुखिया की मदद लेकर उसके हाथ रस्सी से जकड़ दिये। पाँच मिनट तक ख़ूब खेंचा-तानी हुई। तब दतला उठा, और दूसरे किसानों की मदद से, बेबस एलिजा को उठाकर एक बेञ्च पर बैठा दिया।

"मैंने पहले-ही कहा था, कि शैतानी करोगे, तो नतीजा बुरा होगा।" दतला ने ज़ोर-ज़ोर से हाँफते हुए कहा—"मैंने गुनाह-ही क्या किया? एक दिन तो हम सभी को मरना है!......" कहकर उसने और रस्सी मँगाकर एलिजा को अच्छी तरह जकड़ दिया, और बत्ती उठाकर घोड़ों की देख-भाल करने चल दिया।

एलिजा अर्द्ध-मूर्च्छित-सा, इधर-उधर ताकने लगा। नौकर टूटे हुए शीशे चुनने लगा। मुखिया फिर अपने बिस्तर पर जा बैठा।

"ओह, एलिजा, एलिजा! मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ा तरस आता है! पर, किया क्या जाय? तुम्हारे दूसरे साथियों में-से भी एक विवाहित है। कोई आशा नहीं—हाय! अब कुछ नहीं हो सकता।"

"सब उसी मेरे शैतान चचा की बदौलत हुआ है, उसी ने मेरा सर्वनाश किया है," एलिजा ने व्यग्र होकर कहा—"उसे अपने रुपये का सब से ज्यादे मोह है! माँ कहती थी, कि गुमाश्ते ने उससे कोई एवज़ी ख़रीदने के लिये कहा था।

पर उसने नहीं माना। जैसे मैंने और मेरे भाई ने जो-कुछ कमा-कमाकर उसे सौंपा, उसकी कुछ बिसात-ही न थी!… अरे!—शैतान!"

उधर दतला कमरे में वापस आया, बैठकर थोड़ी देर प्रार्थना करता रहा, फिर बिस्तरा बिछाकर मुखिया के पास बैठ गया। एलिजा उसे देखते-ही चुप होगया, आँखें बन्द करके लेट गया। मुखिया ने चुपचाप सिर हिलाते हुए उसकी तरफ़ सङ्केत किया। दतला ने हाथ हिला-हिलाकर कहना शुरू किया—"बताओ भला, कौन ऐसा पाजी होगा, जिसे रञ्ज न होगा!……मेरे सगे-भाई का लड़का है, और मुझे-ही रञ्ज न हो!……लोग तो यह समझते हैं, कि मैं पिशाच हूँ, राक्षस हूँ, पापी हूँ!……और तो और—ख़ुद उसकी बहू-ही ऐसा समझती है, और ऐसे-ही विचार उसने इसके दिमाग़ में भर दिये हैं! यह समझता है, कि मेरे पास इसका एवज़ी ख़रीदने लायक़ पैसा मौजूद है!……ख़ैर, वह चाहे कुछ भी कहे, मैं बुरा न मानूँगा—आख़िर मेरा-ही तो लड़का है!"

"लड़का तो बड़ा-अच्छा है बेचारा!" मुखिया ने द्रवित कण्ठ-से कहा।

"……और मैं तो अपने भरसक सब-कुछ करूँगा। कल जाकर इगनट को भेजूँगा। इसकी स्त्री भी आना चाहती थी।"

"ठीक है—उन्हें भेज देना" मुखिया ने अर्द्ध-स्वगत भाव से कहा—"रुपये की हक़ीक़त-ही क्या है, आदमी के आगे तो रुपया-पैसा मैल के बराबर है !"

"वाह ! किसी रुपये-वाले से पूछो—रुपया मैल के बराबर है, या क्या है ?" सराय के किसी नौकर ने सिर उठाकर बड़बड़ाते हुए कहा !

"ओह ! रुपया—रुपया ! रुपया बड़े-बड़े पापों का जन्म-दाता है," दतला ने कहा—"इसके समान घृणित वस्तु कोई नहीं; धर्म-शास्त्रों में भी ऐसा-ही लिखा है।"

"हाँ, वहाँ-तो सभी-कुछ लिखा है," नौकर ने कहा—"एक आदमी ने मुझे एक व्यापारी की कहानी सुनाई थी, कि उसने सारी उम्र में जोड़-जोड़कर धन के अम्बार लगा लिये थे, और मरती-बार भी उसे छोड़ना नहीं चाहता था। मरा, तो उसकी इच्छा के अनुसार सारा धन उसके साथ-ही दफ़ना दिया गया। लोगों को मालूम भी न होने पाया, क्योंकि मरती-बार उसने लोगों से कहा—कि अमुक तकिया मेरे सिर के नीचे रख देना। मरने के बाद वह तकिया क़ब्र में रख दिया गया। बाद में बेटे-पोतों ने धन की तलाश की, तो धेला भी नहीं मिला। एक लड़के ने अनुमान किया, कि हो-न-हो, माल तकिये में था। मामला ज़ार-तक पहुँचा, और उसने क़ब्र खोदने की अनुमति देदी। जानते हो, फिर क्या हुआ ? क़ब्र खोदी गई, तो रुपया-पैसा तो कुछ दिखाई

न दिया, हाँ लाश में लाखों कीड़े चलते नज़र पड़े। बस, क़ब्र फिर बन्द करदी गई!......देखा तुमने, रुपया कैसी बुरी चीज़ है!"

"बेशक, रुपया बहुत-बुरी चीज़ है!" और वह उठकर फिर प्रार्थना करने लगा।

जब प्रार्थना ख़त्म कर चुका, तो भतीजे की तरफ़ देखा, वह सो गया था। दतला खड़ा हुआ, और धीरे-से एलिजा की रस्सी खोल दी, और तब पड़कर सो गया।

९

जब सब ख़ामोश होगये, तो पोलिकी चुपके-से उठा, और चलने की तैयारी करने लगा। न-जाने-क्यों रँगरूटों के साथ रात-बिताते उसे भय होने लगा। मुर्ग़े बाँग देरहे थे। पोलिकी का घोड़ा दाना-चारा समाप्त कर चुका था, और अभी अँधेरा-ही था, कि वह घर की तरफ़ चल दिया। जब शहर-पनाह से बाहर पहुँचा, तो पोलिकी ने सन्तोष का साँस लिया। अबतक बार-बार उसके मन में यह भाव आजाता था, कि ऐसा न हो, सिपाही उसका पीछा करें, उसे पकड़ लें, और एलिजा की जगह उसे-ही रँगरूट बनाकर भेज दें। चाहे यह वहम हो, या भय हो—वह रह-रहकर काँप उठता था, और बार-बार चाबुक फटकारकर घोड़े को सरपट दौड़ने की उत्तेजना देता था। दिन निकलते-

ही एक लम्बे पादरी से उसकी भेंट हुई, जिसके साथ एक ठिगना मज़दूर था। पोलिकी ने इसे एक भयानक अपशकुन समझा, और घबरा गया। उसने घोड़े को और तेज़ किया, और टोपी उतारकर नोटों के लिफ़ाफ़े को छूकर देखा। एक बार सोचा—"इन्हें छाती में छिपा लूँ!" फिर आप-ही-आप कहा—"नहीं-नहीं, टोपी में सुरक्षित रक्खे हैं, अब तो उन्हें घर चलकर छेड़ूँगा।" घोड़ा दुलकी चाल से चलता रहा। पोलिकी मज़े में आकर ज़रा उठँग गया, और मालिकिन की उस प्रसन्नता और प्रशंसा की कल्पना करने लगा, जो नोट पाने पर उसे होसकती थी। फिर उसे यह भी ख़याल था, कि कम-से-कम पाँच रूबल तो उसे भी इनाम में मिलेंगे-ही। उसने फिर टोपी उतारी, छूकर लिफ़ाफ़े को देखा, और मुस्कराते हुए सिर पर जमाकर रखली। टोपी के निचले किनारे बड़े-ही गन्दे और पुराने थे। अकुलीना ने एक जगह से तो सीकर लाज ढाँक दी थी, पर अब दूसरी जगह से ज़रा-सा छेद होगया। अँधेरे में पोलिकी ने लिफ़ाफ़े को ज्यों-ज्यों भीतर घुसेड़ने की कोशिश की, त्यों-त्यों वह छेद बढ़ता गया, और लिफ़ाफ़े का कोना बाहर निकल आया।

दिन निकल आया था, ठण्डी हवा बह रही थी, मौसम सुहावना था। पिछली रात पोलिकी ने पलक न झपकाई थी, इसलिये अब उसे हठात् नींद ने आ घेरा। महल जब

थोड़ी दूर रह गया, तो उसकी नींद खुली। उठते-ही उसका हाथ टोपी पर पड़ गया। पर उसे अच्छी तरह जमी पाकर उसने ख़याल किया, लिफ़ाफ़ा भी सुरक्षित है। यह सोचकर उसने घोड़े की पीठ पर चाबुक छुआया, गाड़ी में अस्त-व्यस्त पड़ी हुई घास को ठीक किया, और शान के साथ इधर-उधर देखता हुआ, जमकर बैठ गया।

'वह सामने रसोई है; वे नौकरों के मकानात! वह पड़ौसिन बढ़ई की औरत कपड़ा हाथ में लिये खड़ी है; वह दफ़्र रहा, वह मालिकिन का कमरा है, वहीं तो उसे जाना है, वहीं जाकर तो उसे अपनी विश्वस्तता का प्रमाण देना है, वहीं जाकर तो उसे स-गर्व कहना है—"सरकार, दुनियाँ किसो के विषय में चाहे जो-कुछ कह सकती है!" फिर मालिकिन जवाब में कहेगी—"तुम बे-फ़िक्र रहो पोलिकी, कोई तुन्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। लो, यह पाँच रूबल ( या शायद तीन—और शायद आठ या दस ) इनाम देती हूँ।" कहकर वह नौकरों को हुक्म देगी, कि मुझे कुछ शराब या चाय दी जाय। ठण्ड भी तो बहुत पाई है, दोनों चीज़ों में-से कोई भी नुक़सान न देगी। अगर दस रूबल मिल गये, तो आनन्द आ जायगा। एक जोड़ा तो बूट ख़रीदूँगा, साढ़े चार रूबल निकिल के चाहियें, वे चुका दूँगा, बाक़ी कुछ बचेगा, तो बच्चों के कपड़े-वपड़े बन जायेंगे।'

जब घर कोई सौ क़दम रह गया, तो उसने कोट को कसकर लपेटा, कॉलर ठीक किया, टोपी सिर से उतारी, बाल सँवारे, और बड़े इतमीनान के साथ टोपी के भीतर हाथ दिया। हाथ तेज़ी और आसानी के साथ भीतर घुसने लगा। यहाँ तक कि उँगलियाँ दूसरी तरफ़ निकल आईं। पोलिकी का चेहरा ज़र्द होगया। लिफ़ाफ़े का कहीं पता नहीं था!

पोलिकी ने झट घोड़ा ठहराया, और गाड़ी में पड़ी हुई घास में, और शहर से लाई हुई चीज़ों में लिफ़ाफ़े को तलाश करने लगा। पर लिफ़ाफ़ा न मिलना था, न मिला……।

"हे भगवान्! यह क्या हुआ?…अब क्या होगा?…" उसने भय-विह्वल होकर आप-ही-आप कहा, और सिर के बाल उखाड़ने शुरू किये।

लेकिन फिर सोचा, महल से कोई उसे देख न ले। इसलिये टोपी फ़ौरन् सिर पर जमाली, गाड़ी को पीछे घुमाया, और असन्तुष्ट और आश्चर्य्यित घोड़े की पीठ पर चाबुक पटकाता हुआ वापस चल पड़ा।

उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे, और चिल्ला रहा था—"हाय, दुर्भाग्य! हाय भगवान्!"

---

१०

उस दिन सुबह से शाम-तक किसी ने पोलिकी को महल में न देखा। खाना खाने के बाद मालिकिन ने कई बार उसके विषय में पूछ-ताछ की, और अन्नतका कई बार दौड़ती हुई अकुलीना के पास आई। लेकिन सबसे यही मालूम हुआ, कि पोलिकी तब-तक वापस नहीं लौटा।

अकुलीना बहुत चिन्तित थी। आख़िर हुआ क्या? रास्ते में कोई दुर्घटना तो नहीं हुई? फलवाले ने रुपया देने में ढील तो नहीं की? इसी तरह के बहुत-से भाव उसके मन में आते रहे। दिल उसका रह-रहकर भर आता था, और किसी काम में मन न लगता था। एक बात से वह और भी व्यग्र थी। बढ़ई की स्त्री ने उससे कहा था, कि सुबह के वक़्त उसने पोलिकी को घर के पास तक आते, और फिर तुरन्त लौट जाते देखा था। बच्चे अलग उसके या मिठाई के इन्तज़ार में परेशान थे।

उधर मालिकिन ने ईगर मिख़ालोविच से बार-बार पूछा—"पोलिकी अभी-तक नहीं आया?"—"क्यों नहीं आया?"—इत्यादि। ईगर ने अपने अनुमान पर मन-ही-मन प्रसन्न होते हुए जवाब दिया—"अभी तो आया नहीं, न-जाने क्या हुआ!" फिर मानों सोच में पड़कर बोला—"उसे तो हद-से-हद दोपहर तक आ जाना चाहिये था।"

दिन-भर पोलिकी की कोई ख़बर नहीं मिली। तीसरे

पहर के क़रीब कुछ किसानों की ज़बानी मालूम हुआ, कि वह नङ्गे-सिर, नङ्गे-पैर सड़क पर बदहवास दौड़ता हुआ जाता था, और हर किसी से पूछता था—"तुमने कोई लिफ़ाफ़ा तो नहीं देखा है?" दूसरे आदमी की ज़बानी मालूम हुआ, कि वह एक जगह सड़क-किनारे बेहोश पड़ा था, और पास-ही एक भूखा घोड़ा और धूल-सनी गाड़ी बँधे हुए थे। उस आदमी ने कहा—"मैं तो यह समझा, शराब के नशे में अण्टा-ग़ाफ़िल है, इसलिये कुछ न बोला।"

रात बीत गई, और पोलिकी न आया। अकुलीना की पलक भी न झपकी। ज़रा-सी आहट पर उसके कान खड़े हो जाते। सुबह हो गई, मुर्ग़ बाँग देने लगे, पड़ौसिन जाग पड़ी। अकुलीना भी उठी, और अँगीठी की आग को चैतन्य करने लगी। फिर बर्तन माँजे, नहाई-धोई, बच्चों को जगाया, घर साफ़ किया। यह सब काम करते-करते भी उसके कान किसी की आहट पर-ही लगे थे। सूरज निकल आया, गिर्जे में घण्टे बजने लगे, बच्चे शोर मचाने लगे, पर पोलिकी तब भी न लौटा।

अकुलीना चिन्ता-सागर में डूबती हुई खिड़की के पास चुपचाप खड़ी हो गई। सहसा बड़ी लड़की की आवाज़ कान में पड़ी—"पिताजी आगये!" उसने चमककर पीछे देखा—तो पोलिकी! अजब हालत थी! मुँह ज़र्द था,

आँखें धँसी हुई थीं, और ऐसा मालूम पड़ता था—कि अभी-अभी रो पड़ेगा, या ज़ोर-से हँस पड़ेगा !

वहीं खड़े-खड़े वह बोली—"क्यों पोलिकी, राज़ो-ख़ुशी······?"

पोलिकी ने बड़बड़ाकर कुछ कहा, जो अकुलीना की समझ में न आया।

"क्योंजी ?" उसने पूछा—"मालिकिन के पास होकर आये हो, नहीं ?"

पोलिकी बिस्तर पर बैठ गया, और अजीब तरह की पाप-पूर्ण मुस्कान उसके मुँह पर प्रकट हुई। बहुत देर तक उसके मुँह से कुछ न निकला।

"क्यों जी, इतनी देर कहाँ लगा दी ?"—अकुलीना ने फिर पूछा।

"हाँ, अकुलीना, मैंने रुपया लाकर मालिकिन को दे दिया ! उसे बड़ी ख़ुशी हुई !" सहसा पोलिकी बोल उठा। अकुलीना उठकर चली गई। वह व्यग्र भाव से इधर-उधर ताकने लगा। छत से एक रस्सी लटक रही थी। उसकी दृष्टि उस रस्सी पर जाकर ठहर गई। हठात् वह उठ खड़ा हुआ, और गिरह खोलकर रस्सी खींच ली। इतने में कुछ रोटियाँ लिये अकुलीना ने प्रवेश किया। पोलिकी ने शीघ्रता-पूर्वक रस्सी को कपड़ों में छुपा लिया, और बिस्तर पर बैठ गया।

"क्या बात है, पोलिकी ?—आज कैसे हो रहे हो ?" अकुलीना बोली ।

"सोया नहीं हूँ ।" उसने संक्षेप में उत्तर दिया ।

सहसा खिड़की के आगे से बिजली-सी कौंद गई, और क्षण-भर बाद तितली की तरह उड़ती हुई अक्षतका ने कमरे में प्रवेश किया ।

"मालिकिन ने पोलिकी को इसी-दम बुलाया है, बोली —'इसी-दम,' ···मालिकिन का हुक्म है, इसी-दम·······!"

पोलिकी ने एक बार अकुलीना को ताका, दूसरी बार छोटी बच्ची को । फिर बोला—"आता हूँ । अब और क्या चाहती है ?" पिछला वाक्य उसने अकुलीना को भ्रम में डालने के लिये कहा । और बोला—"शायद इनाम देने को बुलाती है । अक्षतका, कहना—अभी आया !"

वह उट्ठा, और बाहर चल दिया । अकुलीना ने टब में पानी भरा, और छोटी बच्ची से कहा—"यहाँ आ मेरी, तुझे नहला दूँ ।"

बच्ची नहाने का नाम सुनकर रोने लगी ।

"आ मेरी बेटी, आ—खिलौना दूँगी । जल्दी आ, देर न कर, अभी तेरे भइया को भी नहलाना है ।"

उधर पोलिकी अक्षतका के पीछे-पीछे महल नहीं गया, बल्कि उसने एक नया-ही रास्ता पकड़ा । बीच में छत से लगी हुई लकड़ी की एक लम्बी सीढ़ी रक्खी हुई थी ।

पोलिकी ने वहीं ठहरकर चारों ओर देखा, और आस-पास किसी को न पाकर झट सीढ़ी पर चढ़ गया।

"पोलिकी आया क्यों नहीं अभी तक ?" उधर मालिकिन ने दासी से प्रश्न किया—"है कहाँ वह ? क्यों नहीं आया ?"

अक्षतका फिर उड़ चली, और तीर की तरह पोलिकी के घर पहुँचकर मालिकिन का सन्देश सुनाया।

"वाह ! उन्हें तो गये बहुत देर हुई," अकुलीनाने जवाब दिया। बच्ची को वह नहला चुकी थी, और दूध-पीती छोटी लड़की को टब में बैठा रही थी। बच्ची रोती थी, चिल्लाती थी, और अपने छोटे हाथ फैलाकर किसी चीज़ को पकड़ने की व्यर्थ कोशिश करती थी। अकुलीना ने एक हाथ से उसकी ज़रा-सी कमर थाम ली, और दूसरे हाथ से मल-मलकर नहलाने लगी।

"ज़रा देखना बीबी, कहीं जाकर सो तो नहीं गये हैं !" उसने उत्सुक होकर इधर-उधर ताकते हुए कहा।

उसी वक्त पड़ौसिन लहँगा उठाये छत पर गई। कुछ चीज़ सूखने के लिये उसने धूप में डाली थी। सहसा छत से भयानक चीख़ की आवाज़ आई। बढ़ई की औरत चार-चार सीढ़ियों के बाद पैर रखती, गिरती-पड़ती, चिल्लाती वापस लौटी।

"पोलिकी......" उसने घिघियाकर कहा।

अकुलीना के हाथ से बच्ची छूट गयी।

"......ने फाँसी लगा ली।" बढ़ई की स्त्री ने वाक्य पूरा किया।

अकुलीना बच्ची को भूलकर उधर दौड़ी। इधर बच्ची धड़ाम-से टब में उलट गई।

"फाँसी लगाकर......मर गया!" पड़ौसिन ने दौड़ते-दौड़ते कहा। पर अकुलीना को देखकर यह रुक गई।

अकुलीना बिजली की तरह सीढ़ी पर चढ़ गई, और क्षण-भर में ऊपर जा पहुँची। पर तुरत-ही उसने एक भयानक चीख़ मारी, और मूर्च्छित होकर लुढ़क पड़ी। अगर इधर-उधर से दौड़कर आये हुए आदमी झपटकर उसे सम्हाल न लेते, तो वहीं उसका ख़ात्मा हो जाता!

## ११

थोड़ी देर ऐसी गड़बड़ी रही, कि कुछ न होसका। ख़ासी भीड़ इकट्ठी होगई थी। हरेक आदमी ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था, औरतें आतङ्क से काँप रही थीं। अकुलीना बेहोश होकर गिर पड़ी। आख़िरकार, किसी तरह सम्हलकर एक पड़ौसी और गुमाश्ता ईगर मिख़ालोविच सीढ़ी पर चढ़कर ऊपर पहुँचे। इधर बीसवीं दफ़ा बढ़ई की औरत ने अपनी कहानी सुनानी शुरू की—कि कैसे वह निश्शङ्क भाव से,

सूखा कपड़ा उठाने सीढ़ी पर चढ़ी, कैसे उसने इधर-उधर नज़र फेंकी तो एक आदमी लटकता हुआ नज़र आया। कैसे उसने आँखें मल-मलकर देखा, जब अनुभव किया, कि आत्म-हत्या का मामला है, तो कैसे वह एक-बारगी ज़र्द पड़ गई! फिर कैसे वह नीचे उतरी, इसका उसे होश नहीं। भगवान् ने-ही उसकी रक्षा की! ओफ़्! इतने ऊँचे से उतरने में वह गिरी नहीं—यह उसका कितना-बड़ा सौभाग्य था!

जो आदमी ऊपर गये थे, उन्होंने भी ऐसी-ही कहानी सुनाई। पोलिकी ऊपर के कमरे की एक कड़ी में रस्सी बाँध-कर लटक गया था, और प्राण खोचुका था। अकुलीना होश में आई, और सीढ़ो की तरफ़ झपटी। पर लोगों ने उसे रोक दिया।

सहसा पीछे से बच्चा चिल्लाया—"माँ! माँ! बीबी, डूब गई!" अकुलीना एक-दम उधर दौड़ पड़ी। बच्ची टब में औंधी पड़ी हुई थी, शरीर निश्चेष्ट था, और पैर हिलते न थे। अकुलीना ने उसे फ़ौरन् बाहर खींच लिया, पर न तो उसने साँस लिया, और न बोली। तब उसने बच्ची को बिस्तर पर डाल दिया, और कुहनियाँ टेककर इतने बीभत्स भाव से हँसी, कि बड़ी लड़की ने भयभीत होकर कानों में उँगलियाँ ठूँस लीं। लोग-बाग दौड़कर उधर-ही आये। उन्होंने बच्ची के शरीर को उठाकर उपचार करना

शुरू किया, पर सब बेकार हुआ। अकुलीना बिस्तरे पर उछल-उछलकर इतने ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगी, कि जितने आदमी वहाँ मौजूद थे, सब भयभीत होगये। कोई रोता था, कोई फुस-फुस करता था, कोई खेद-पूर्ण मुद्रा-बनाये, अलग खड़ा था। बढ़ई की स्त्री अपनी कहानी सुनाने में-ही व्यस्त थी। ईगर ने पादरी और सिपाहियों को बुलाने के लिये आदमी भेजे। अज़त्का, पत्थर की मूर्त्ति की तरह एक तरफ़ चुपचाप खड़ी थी। दूसरी दासी अगैथा रो-रोकर पागल हो रही थी। बाक़ी औरतें अकुलीना के गिर्द खड़ी हुई, खेद-पूर्ण नेत्रों से उसे ताक रही थीं। बच्चे एक कोने में सिकुड़े हुए, माँ की सूरत देख-देखकर बिलबिला रहे थे। बाहर बड़ी-भारी भीड़ लग गई थी, और तरह-तरह के बे-सिर-पैर के क़यास भिड़ाये जारहे थे। किसी ने कहा—बढ़ई ने अपनी औरत की टाँग काट दी; दूसरा बोला—रसोइये की बिल्ली पागल होगई है, और उसने कई आदमियों को काट लिया है; तीसरा झट बोला—नहीं जी, यह बात नहीं......यह है। जब कुछ देर बीती, तो सच्ची बात क्रमशः सभी पर प्रकट होगई, और सब चुप होगये। धीरे-धीरे बात मालिकिन के कानों-तक पहुँची। सुनते-ही वह तुरन्त घटना-स्थल पर आई। सब लोग उसे देखने को उत्सुक हो उठे। मालिकिन ग़मगीन सूरत बनाये भीतर गई। जाकर उसने अकुलीना का हाथ थाम लिया। पर अकुलीना ने तुरन्त झटका देकर हाथ छुड़ा लिया।

"अकुलीना!" मालिकिन ने स्निग्ध स्वर में कहा—"देखो, तुम्हारे सिर पर कई बच्चों का बोझ है, हिम्मत न हारो! जो-कुछ होना था, होचुका!"

अकुलीना ठठाकर हँस पड़ी, और उठ खड़ी हुई। कहने लगी—"मेरे बच्चे……सब चाँदी हैं, चाँदी, नोट नहीं! मेरे पास तो एक भी नोट नहीं है। मैंने पोलिकी से पहले-ही कहा था—नोट एक मत लेना, सब नक़द रुपये लेना, जो अगर कहीं गिरें भी, तो आवाज़ तो होजाय।……ओहो! मैंने पहले-ही कहा था……!" कहती-कहती वह ज्यादे ज़ोर-से हँसने लगी।

मालिकिन ने सिर घुमाया। मुहँ से बोली—"थोड़ा ठण्डा पानी चाहिये।"—और तुरत-ही वह पानी की खोज में इधर-उधर देखने लगी। सहसा उसकी नज़र छोटी लड़की के मृत शरीर पर पड़ गई। देखते-देखते उसकी आँखों में आँसू भी आये। लोगों ने उस दिन समझा, कि मालिकिन का हृदय कितना द्रव-पूर्ण, और स्नेह-पूर्ण है!

मालिकिन सिसकी ले-लेकर रोने लगी, और थोड़ी देर में-ही मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। लोगों ने आगे बढ़कर उसे सम्हाला, और उठाकर महल की तरफ़ ले चले। भीड़ फिर छटने लगी। अकुलीना का हँसना और वाही-तबाही बकना अब भी जारी था। लोग उसे दूसरे कमरे में लेगये। डॉक्टर ने उसकी परीक्षा की, सिर पर बर्फ़ रक्खी, और ऊपर से

पट्टी कसी। पर उसके होश-हवास ठिकाने न हुए। रोने के नाम तो उसकी आँखों से एक आँसू न निकला। हाँ, हँसती बेहद थी, ऐसी-ऐसी बातें कहती थी, कि जो लोग उसकी परिचर्या कर रहे थे, वे भी हँसे-बिना न रह सकते थे।

## १२

अगले दिन छुट्टी थी, पर छुट्टी का कोई चिह्न दिखाई न पड़ता था। मौसम उस दिन बढ़िया था, पर कोई मनोरञ्जन या सैर के लिये घर से न निकला; किसी लड़की के मुँह से गाने की आवाज़ न निकली; जो लोग शहरों में नौकर थे, और छुट्टी का दिन घर पर बिताने आये थे, उनके ठहाके की आवाज़ भी उस दिन सुनाई न पड़ती थी। सब लोग अपने अपने घरों में चुपचाप बैठे थे। अगर कोई आपस में कुछ बात करता भी था, तो इस तरह डरते-डरते जैसे किसी ने सुन ली, तो खा-ही जायगा! दिन में तो यह निस्तब्धता ख़ैर ज्यादे न अखरी, पर जब दिन छिपा, अँधियारी बढ़ती आई, कुत्ते भौंकने लगे, और ख़ूब ज़ोर-ज़ोर से हवा चलनी शुरू हुई, तब तो लोग एक-बारगी ऐसे थर्राये, कि झट लाल्टेनें जला लीं, और दबककर बैठ गये। जो लोग अकेले थे, वे पड़ौसी के घर जाकर रात-भर ठहरने को अनुमति माँगने लगे। जिनको उस दिन किसी काम से बाहर जाना था, उनको हिम्मत किसी तरह दर्वाज़े के बाहर क़दम रखने

की न हुई। सारी रात लोगों ने पवित्र-जल* पी-पीकर बिता दी। कुछ लोगों ने अजीब और भयानक सपने देखे। पोलिकी के घर में उस दिन कोई न था! पगली अकुलीना और बच्चों को लोग दूसरी जगह ले गये थे। सिर्फ़ छोटी लड़की की मृत देह वहाँ पड़ी रह गई थी। बढ़ई की स्त्री ने एक मित्र को महमान बनाया था, और हफ़्ते-भर के लिये जो चाय रक्खी हुई थी, वह एक रात में ख़त्म कर डाली। फिर भी उसे और उसके मित्र को रात-भर डर लगता रहा।

मतलब यह, कि आस-पास रहनेवाले सभी आदमियों को रात-भर पोलिकी के उपद्रवों की कल्पना ने परेशान रक्खा। पर पोलिकी का शरीर सारी रात उसी जगह लटका रहा। महल में तो वह बुरी हालत थी, कि देखकर हँसी आजाय। मालिकिन तो बेचारी इस आकस्मिक घटना के कारण अस्वस्थ थीं। दनियाशा उनके लिये औषधि गर्मकर रही थी। वह रात चूँकि भयावनी थी, इसलिये उसकी चाची रात-भर ठहरने के लिये आगई थी।

अकस्मात् दनियाशा ने पूछा—"थोड़ा तेल चाहिये; कोई जाओ।"

दूसरी दासी ने ताबड़-तोड़ जवाब दिया—"मैं तो जाने से रही!"

---

* हिन्दुओं के गंगा-जल की तरह, पादरियों के द्वारा पवित्र किया हुआ जल भी ईसाइयों में विघ्न-नाशक समझा जाता है।

"पगली कहीं की ! अरे, तू और अत्तका चली जाना !"

"मैं ? अजी मैं तो अकेली-ही भागती चली जाऊँगी ! मैं किससे डर सकती हूँ !" कहते-कहते अत्तका भय-से पीली पड़ गई।

"अच्छी बात है, तो फिर जाओ, ग्रेनी अन्ना से कहना थोड़ा तेल देदे। जाओ, ज़्यादा दूर नहीं है; यही सामने तो है।"

अत्तका ने एक हाथ से लहँगा उठाया, और एक-ही हाथ को घण्टे के पेण्डुलम का रूप देकर चल खड़ी हुई। वह ख़ूब सशङ्क थी, और सोचती थी, कि रस्ते में किसी की आवाज़ अगर कान में पड़ गई, तो वह डर-से प्राण-ही देदेगी ! ख़ैर, उसने किसी तरह हिम्मत की, और आँखें बन्द करके, चिर-परिचित रस्ते पर पूरी तेज़ी-से भाग चली।

---

## १३

"मालिकिन सो तो नहीं गई ?" सहसा एक भारी और गँवारू आवाज़ अद्तका के कान में पड़ी। अब तक उसकी आँखें बन्द थीं, सो अब उसने खोल दीं, और देखा—पास-ही कोई लम्बी मनुष्य-मूर्त्ति खड़ी है। उसने ज़ोर-से चीत्कार किया, और इतनी तेज़ी-से वापस भागी, कि लहँगा उड़कर सिरपर जा पहुँचा। एक साँस में वह दनियाशा के पास पहुँच गई, और बिछौने पर पड़कर ज़ोर-ज़ोर से हाँफ़ने लगी। दनियाशा, उसकी चाची, और दूसरी दासी भय के कारण मृत-प्राय होगईं, और अभी वे पूरी तरह सम्हल न पाईं थीं, कि दर्वाज़े पर किसी के पैरों की चाप सुनाई दी। दनियाशा दौड़कर मालिकिन के पास जा पहुँची, दूसरी दासी अरगनी पर टँगे कपड़ों के पीछे छिप गई, दनियाशा की चाची हिम्मत करके दर्वाज़ा बन्द करने के इरादे से उठी। लेकिन बन्द न कर पाई थी, कि किवाड़ चौपट खुल गये, और दतला ने कमरे में प्रवेश किया। दतला ने इन लोगों के भय की तरफ़ कुछ भी ध्यान न दिया, और कोने में बेञ्च पर बैठकर मोहर किया हुआ एक लिफ़ाफ़ा जेब से निकाला। दनियाशा की चाची ने दोनों हाथों से कलेजा दबाकर रुकते-रुकते कहा—"वाह भाई, मैं तो डर-ही गई थी! मुँह से बात भी नहीं निकलती! मैं तो समझी, आज वक्त आ पहुँचा......!"

"भला इस तरह घर में आया करते हैं ?" कपड़ों की आड़ में-से निकलकर दूसरी दासी ने कहा।

"मालिकिन अलग बेचारी एक-बारगी घबड़ा गईं !" दनियाशा ने लौटकर कहा—"भला तुम बिना-पूछे ज़नान-ख़ाने में घुस कैसे आये ?"

दतला ने अपने व्यवहार पर खेद प्रकट किये-बिना कहा—"मालिकिन सो तो नहीं गई हैं ?—मुझे उनसे काम है।"

दनियाशा ने उत्तर दिया—"उनकी तबियत अच्छी नहीं है।"

सहसा अक्षतका खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसका यह हँसना यहाँ-तक बढ़ा, कि तकिये में मुँह छिपा लेने पर भी रोके न रुका। दनियाशा और उसकी चाची ने बहुतेरा मना किया, पर हँसी का प्रवाह बन्द न हुआ।

दतला ने घूमकर एक बार स्थिर नेत्रों-से उसे ताका, और फिर अपनी बात शुरू की—"देखो, बड़ा-ही ज़रूरी काम है। बस, तुम जाकर इतना कह दो, कि एक किसान आया है, और उसे नोटों का एक लिफ़ाफ़ा पाया है।"

"कैसा नोटों का लिफ़ाफ़ा ?"

जाने के पहले दनियाशा ने लिफ़ाफ़े पर लिखा हुआ पता पढ़ा, और पूछा कि कैसे और कहाँ यह लिफ़ाफ़ा उसे मिला, जिसे कि पोलिकी को लाना चाहिये था। उत्तर सुन-

कर दनियाशा बिजली की तरह मालिकिन के पास भागी; पर जब वापस लौटकर यह ख़बर सुनाई कि मालिकिन उससे भेंट करना नहीं चाहतीं, तो दतला के अचरज का ठिकाना न रहा।

मालिकिन ने कहा था—"न मैं कुछ जानती हूँ, न जानना चाहती हूँ। कौन दतला है ?......कैसे नोट हैं ?... इस वक़् न मैं किसी से मिल सकती हूँ, न मिलना चाहती हूँ। उससे कहो, वह जाये और मेरी शान्ति में विघ्न न डाले।"

"अब मैं क्या करूँ भला ?" दतला ने लिफ़ाफ़ा अल-टते-पलटते कहा—"मामूली रक़म तो है नहीं।......हाँ, क्या लिखा है ?"

आख़िरी वाक्य दनियाशा के प्रति कहा गया था, जो फिर उसपर लिखा हुआ पता पढ़ रही थी।

दतला कुछ संशय में पड़ गया। उसने सोचा—कहीं ऐसा न हो, लिफ़ाफ़ा मालिकिन का न हो; और उसने पता पढ़ने में भूल खाई हो। पर दनियाशा ने पढ़कर उसका संशय दूर कर दिया, और उसने लम्बी साँस लेकर लिफ़ाफ़ा भीतर की जेब में रख लिया। उठने का उपक्रम करते हुए बोला—"मालूम होता है, जाकर कोतवाली में दाख़िल करना पड़ेगा।"

"ज़रा ठहरो ! मैं एक बार फिर कह देखती हूँ।" दनियाशा ने कहा—"लाओ, लिफ़ाफ़ा मुझे दो।"

दतला ने लिफ़ाफ़ा बाहर निकाला, पर दनियाशा के फैले हुए हाथपर एक-बारगी रखने से उसका मन हिचका। बोला—"उनसे कह देना, दतला ने सड़क पर पड़ा पाया था।"

"अच्छी बात है; लाओ, मुझे दो।"

"पहले तो मैंने सोचा, कुछ नहीं—मामूली ख़त है, पर पीछे एक सिपाही से पढ़वाया, तो मालूम हुआ कि उसमें नोट हैं।"

"ठीक है; लाओ मुझे दो तो सही।"

"मैं तो सीधा यहीं आया; घर भी नहीं गया······" दतला ने फिर कहना शुरू किया—"मालिकिन से कह देना······"

दनियाशा ने लिफ़ाफ़ा उससे ले लिया, और मालिकिन के पास पहुँची।

"ओह दनियाशा ! रुपये-पैसे की बात मुझसे मत करो।" मालिकिन ने उसकी बात सुनकर ग्लानि-पूर्ण स्वर में कहा—"उस बच्ची की याद आती है······"

"सरकार, दतला समझा नहीं, कि आप यह रुपया किसे दिलाना चाहती हैं !" दनियाशा कहने लगी।

मालिकिन ने लिफ़ाफ़ा खोला, और नोटों पर नज़र पड़ते-ही एक-बारगी काँप उठी ! फिर किसी विचार में पड़ गई।

"ओह! भयानक······रुपया! यह रुपया कैसे-कैसे अनर्थ करता है!!" आखिर वह बोली।

"दतला बाहर बैठा है सरकार, आप उसे जाने की आज्ञा देती हैं, या कुछ देर के लिये दर्शन देने का अनुग्रह करेंगी?—रुपया तो सब ठीक है न?" दनियाशा बोली।

"मुझे इस रुपये की जरूरत नहीं है। यही कम्बख्त रुपया सारे अनर्थ की जड़ है।······ओह! कैसी बीभत्स घटना घट गई······! उससे कहो, इस रुपये को वही ले जाय।" कहते-कहते मालिकिन ने दनियाशा का हाथ झकझोरना शुरू किया, और कहा—"उससे कह दो, यह रुपया वही ले जाय, और इसका चाहे-जो उपयोग करे।"

"पाँचसौ रूबल?" दनियाशा ने अविश्वास की हँसी हँसकर कहा।

"हाँ, सब-के-सब ले जाय!" मालिकिन ने अधीर होकर दोहराया—"ताज्जुब की बात है, कि तुम मेरा मतलब नहीं समझतीं! यह रुपया बड़ा अपवित्र और हेय है। इसके विषय में फिर कभी बात न करना। जिसने यह पाया है, उसी को देना। जाओ, जाओ, चली जाओ।"

दनियाशा वापस लौटी।

"सब-का-सब रख लिया?" दतला ने पूछा।

"लो, तुम खुद-ही गिन लो; हुक्म हुआ है, कि सब-का-सब रुपया तुम्हें-ही दे दिया जाय।"

दतला ने टोपी बग़ल में दबाई, और आगे झुककर गिनने लगा। मुँह से बोला— "तुमने क्यों नहीं गिन दिये ?"

दतला समझा, कि तबियत ख़राब होने के कारण मालिकिन ख़ुद नहीं गिन सकीं, इसलिये उसे गिनने की आज्ञा दे दी गई है।

"घर जाकर गिनना, रुपया तुम्हारा हो गया !" दनियाशा ने जल्दी-से कहा—'मालिकिन ने ऐसी-ही आज्ञा दी है।"

दतला ने कमर सीधी करके दनियाशा को घूरा।

दनियाशा की चाची आश्चर्य-से वज्राहत रह गई। बोली—"ओ माँ ! ओ माँ ! भगवान् ने इसपर कैसा अनुग्रह किया ! ओ माँ ! ओ माँ !"

दूसरी दासी को तो विश्वास-ही न आया। बोली— "यह कैसे हो सकता है ?—ना बीबी, तुम बहकाती हो !"

"मैं—बहकाऊँगी ? क्यों ? मालिकिन ने सचमुच मुझे ऐसी-ही आज्ञा दी है।······ लो भाई दतला, लो अपना रुपया।" फिर आप-ही-आप बोली—"यह तो होता-ही आया है, एक को दुःख है, तो दूसरे को ···!"

"क्या सच······पाँचसौ रूबल !" दनियाशा की चाची ने कहा।

"शायद इससे भी कुछ ज़्यादा !" दनियाशा ने उत्तर

दिया।—"देखो दतला, कम-से-कम दस कोपेक का एक नोट जरूर दान कर देना।......तुम्हारे पास तो पहले-ही रुपये की कमी नहीं है......"

अब कहीं दतला की समझ में आया, कि दनियाशा जो-कुछ कहती है, सच कहती है, और गिनने के लिये जो नोट उसने इधर-उधर फैला दिये थे, उन्हें इकट्ठा करने लगा। पर तो-भी उसके हाथ-पाँव काँप रहे थे, और वह रह-रहकर दासियों की तरफ़ इस ख़याल से ताकता था, कि कहीं उसे बहकाया तो नहीं जा रहा है।

दनियाशा ने कहा—"देखो तो सही, खुशी के मारे बुड्ढे के हाथ-पैर फूल गये हैं! अरे लाओ, लाओ, मैं इकट्ठे कर दूँ!"

उसने हाथ आगे बढ़ाया, पर दतला ने मना कर दिया। उसने झटपट सब नोट इकट्ठे कर लिये, और गड्डी हाथ में लेकर खड़ा हो गया।

"इस वक्त तो बड़ी खुशी हो रही होगी?"

"मेरी समझ में-ही नहीं आता, कि क्या कहूँ! सच-मुच......"

उसने वाक्य पूरा न किया, और हाथ हिलाकर हँसता हुआ बाहर निकल गया।

मालिकिन ने घण्टी बजाई। दनियाशा गई।

"रुपये देदिये?"

"जी हाँ।"

"बहुत ख़ुश हुआ होगा ?"

"ख़ुशी-से पागल-जैसा होगया था।"

"अच्छा, ज़रा उसे बुलाना। मैं सुनना चाहती हूँ, वह लिफ़ाफ़ा उसे कैसे मिला। यहीं बुलालो; मैं बाहर तो जा नहीं सकती।"

दनियाशा बाहर दौड़ी, और रास्ते में-ही दतला को पा-लिया। उसका सिर अभीतक नङ्गा था। नोटों की गड्डी उसने बटुए में न रखकर दाँतों के बीच में दबा रक्खी थी। शायद ऐसा इसलिये था, कि उसे अभीतक रुपयों के अपने होजाने का पूर्ण विश्वास न था। जब दनियाशा ने आवाज़ दी, तो वह एक-बारगी काँप उठा।

"क्या है ?......क्या बात है जी ? क्या वापस लेना चाहती हैं ?...तुमने मेरे पक्ष में कुछ भी नहीं कहा ?...अरे, मैं तो यह सोच रहा था, कि तुम्हारे वास्ते ढेर-सारा शहद भिजवाऊँगा।"

"बेशक ! ऐसे-ही भिजवाने-वाले बिगड़े हो कहीं के !"

दर्वाज़ा ठेलकर दतला के साथ दासी भीतर पहुँची। दतला के दिलपर जो बीत रही थी, वही जानता था। बेचारे के प्राण गले में आ अटके थे। कुछ होश नहीं था, कैसे और किधर से जा रहा है। बस, ज्योंही मालिकिन के सामने पहुँचा, मानों नींद टूट गई।

मालिकिन ने कहा—"कहो जी दतला······?"

दतला ने विनयावनत होकर कहा—"जो आज्ञा सरकार की !······मालिकिनजी, क़स्म खाकर कहता हूँ, मैंने उसे छुआतक नहीं !···क्या बताऊँ, आपने मेरी ईमानदारी का-ही यह पुरस्कार दिया !······बात यह थी, कि मैं आजकल कुछ परेशान भी था। मेरा घोड़ा बिल्कुल बे-काम हो चुका है !"।

"ख़ैर, तुम्हारी तक़दीर" मालिकिन ने विरक्ति और दया-मिश्रित स्वर में कहा—"रखलो—काम आयेंगे।" दतला मुँह से कुछ न बोल सका, सिर्फ़ आँखें घुमाने लगा।

"मुझे इस बात ख़ुशी है, कि वह तुम्हें पागया। परमात्मा करे, इस रुपये का सदुपयोग हो।······क्यों, ख़ुश तो हो ?"

"वाह ! भला क्यों नहीं सरकार ? मैं तो इतना ख़ुश हूँ—इतना ख़ुश हूँ मालिकिन······! सारी उम्र आपको दुआएँ देता रहूँगा।······भगवान् करे आपको कभी कोई कष्ट न हो······।"

"तुम्हें पाया कैसे ?"

"बात यह है—मेरा ख़याल है, कि मालिकिन माँ से भी बढ़कर होती हैं, और हम लोगों को सदा उनकी भलाई सोचने में दत्त-चित्त रहना चाहिये। हमें हमेशा सच्चाई, ईमान्दारी और प्रतिष्ठा के साथ······"

"यह तो बेकार की भूमिका बाँधने लगा सरकार !" दनियाशा ने कहा।

"मैं अपने भतीजे—रँगरूट—को लिवाकर शहर गया था। जब वापस लौट रहा था, तो सड़क के किनारे एक जगह इसे पड़ा पाया। जान पड़ता है, पोलिकी से गिर गया।"

"ख़ैर, अब जाओ—जाओ, मैं तुमसे ख़ुश हूँ।"

"मैं तो इतना ख़ुश हूँ सरकार कि......"

तब उसे याद आया, कि उसने ठीक तरह से मालिकिन को धन्यवाद नहीं दिया, और उसे शिष्टाचार ज़रा भी नहीं आता। मालिकिन और दनियाशा मुस्कुरा पड़ीं। उधर कमरे से निकलते-ही दतला ताबड़-तोड़ भागा। उसे भय था, कभी कोई आकस्मिक घटना होजाय, और रुपया उससे वापस लेलिया जाय !

## १४

बाहर आकर दतला ने इधर-उधर देखा, और एक गली में घुस गया। वहाँ जाकर उसने अपनी पेटी ढीली की, और नोटों का बटुवा उसमें खोंसकर फ़िर कस ली। तब गली से बाहर आकर वह फिर चलने लगा। इस वक़ उसके दिमाग़ में ऐसे-ऐसे विचार चक्कर लगा रहे थे, कि जब चला तो शराबियों की तरह पैर लड़खड़ाने लगे। सहसा एक मनुष्य-मूर्त्ति को उसने अपनी तरफ़ आते हुए देखा। इस

मनुष्य-मूर्त्ति ने उसका नाम लेकर आवाज़ दी। दतला ने पहचाना—एफ़िम चौकीदार था, जो हाथ में डण्डा-लिये पहरा देता घूम रहा था।

"अरे बाबा! तुम कहाँ?" एफ़िम ने तपाक-से कहा—"कहो रँगरूटों को शहर पहुँचा आये?"

"हाँ। तुम आज यहाँ कैसे घूम रहे हो?"

"मैं तो पोलिकी का पहरा देने पर नियुक्त किया गया हूँ। उसने आज फाँसी लगाकर आत्म-घात कर लिया।"

"है कहाँ वह?"

"सामने! लोग कहते हैं, छत की कड़ी में रस्सी डाल-कर लटक गया।" एफ़िम ने अपने डण्डे से अँधेरे में सङ्केत करते हुए जवाब दिया।

दतला ने उधर देखा, पर कुछ न देख सका। तोभी उसने आँखें झिपाई, भौंहें चढ़ाई, और सिर हिलाया।

"बाबा, यह रात कितनी भयानक है!" एफ़िम ने कहा—"हड्डियाँ-तक काँपी जारही हैं। यहाँ तो खैर खड़ा हूँ; हुक्म है—फ़र्ज़ है, पर चाहे ईगर मिख़ालोविच मुझे मार-ही डाले, अकेला ऊपर तो जाकर बैठूँ नहीं।"

"ओह! कैसा पाप!...महापाप...!" दतला ने अपनी बात का मतलब आप-ही समझे-बिना कह दिया। इसी तरह वह और भी कुछ कहना चाहता था, कि सहसा ईगर मिख़ालोविच की आवाज़ सुनाई दी—

"ओ चौकीदार ! यहाँ आ !"

चौकीदार आगे बढ़ गया।

ईगर ने पूछा—"तुम्हारे पास वह दूसरा आदमी कौन खड़ा था ?"

"दतला।"

"अरे ! तुम हो दतला ? यहाँ आओ।"

दतला आगे बढ़ा। ईगर के हाथ में एक लाल्टेन थी; उसकी रोशनी में उसने पहचाना, ईगर के साथ लम्बा कोट और तुर्रेदार टोपी पहने एक पुलिस-कॉन्स्टेबिल भी है।

"देखो, इस बूढ़े को भी साथ ले चलो !" ईगर ने कहा।

यह फ़रमान बूढ़े को कुछ अखरा, पर बचाव का तो कोई उपाय-ही न था।

"और तुम एफ़िम, तुम बड़े बहादुर निकले ! शाबाश ! झटपट दौड़कर ऊपर और जाओ, आप-(कॉन्स्टेबिल) के चढ़ने के लिये सीढ़ी छत से लगा दो।"

एफ़िम, जो पहले जान देने पर भी, ऊपर नहीं जाना चाहता था, अब जूतों की चर्र-मर्र आवाज़ करता हुआ ऊपर चला।

पुलीस-वाले ने दियासलाई जलाकर सिगरेट सुलगाई। डेढ़ मील परे उसका डेरा था, और जिस वक़्त वह शराब के

नशे में मस्त पड़ा रहता था, ऐसे वक़्त में इस अप्रिय काम के लिये वाध्य किये जाने के कारण उसका मन कुछ खिन्न था। रात के दस बजे वह यहाँ पहुँचा था, इसलिये लाश को फ़ौरन् देखना चाहता था। चलते-चलते ईगर ने दतला के वहाँ आने का कारण पूछा, तो दतला ने रुकते-रुकते सब-कुछ बता दिया,—रुपया पाने से लेकर मालिकिन की आज्ञा तक! इतना उसने और जोड़ दिया कि वह सीधा ईगर मिख़ालोविच के पास-ही आरहा था!···पर उसके भय की सीमा न रही, जब ईगर ने देखने के लिये लिफ़ाफ़ा माँगा। पर देना-ही पड़ा, कोई उपाय न था! पहले ईगर ने और फिर कॉन्स्टेबिल ने बारी-बारी से लिफ़ाफ़े का निरीक्षण किया, और दतला से दो-चार रूखे और संक्षिप्त प्रश्न किये।

"हाय! रुपया हाथ से निकल गया!" दतला ने सोचा। पर जब कॉन्स्टेबिल ने लिफ़ाफ़ा सही-सलामत लौटा दिया, तो जैसे उसकी जान में जान आई।

कॉन्स्टेबिल बोला—"सब तक़दीर की बात है!"

ईगर ने कहा—"चलो अच्छा-ही हुआ, इस वक़्त इस रुपये का सदुपयोग भी होसकता है। वह अभी-अभी अपने भतीजे की भर्त्ती कराकर आरहा है, अब कल जाकर उसकी एवज़ी का प्रबन्ध कर सकेगा!"

कॉन्स्टेबिल ने ठण्डी साँस ली।

"भला कैसे ख़रीद सकता हूँ? रुपया-ही कहाँ से बचेगा?

घर में तो पहले भूँजी-भाग तक नहीं है, घोड़ा अलग मरने को तैयार बैठा है।······और अब तो मैं समझता हूँ, कुछ हो भी नहीं सकता; देर काफ़ी होचुकी है।"

"ख़ैर, तुम्हारी मर्ज़ी है!" ईगर ने कहा, और तब दोनों चुपचाप पुलिस-कर्मचारी के पीछे-पीछे चले।

चलते-चलते तीनों आदमी उस जगह पहुँचे, जहाँ एफ़िम चौकीदार, हाथ में लाल्टेन लिये, सीढ़ी के पास खड़ा इनकी प्रतीक्षा कर रहा था। कॉन्स्टेबिल ने पूछा—"कहाँ है?"

"इधर," ईगर ने धीरे-से कहा—"एफ़िम, तुम बड़े बहादुर हो! शाबाश! ज़रा लाल्टेन लेकर आगे-आगे चलो तो।"

एफ़िम का भय काफ़ूर होचुका था। दो-दो सीढ़ियाँ छोड़कर पैर धरता हुआ वह बड़ी दिलेरी-से ज़ीने पर चढ़ा। उसके बाद कॉन्स्टेबिल और उसके पीछे ईगर चढ़े। जब वे लोग छत पर पहुँच चुके, तो दतला ने ज़ीने की पहली सीढ़ी पर पैर रक्खा, और एक गहरी साँस लेकर विचार में पड़ गया। दो-तीन मिनट बीत गये। ऊपर से पैरों की आहट भी आनी बन्द होगई, यानी वे लोग लाश के पास जा पहुँचे थे।

"बाबा, ऊपर आओ, दारोग़ाजी बुलाते हैं!" सहसा एफ़िम ने ऊपर से आवाज़ दी।

दतला ने ऊपर चढ़ना शुरू किया। ऊपर पहुँचकर देखा, सामने-ही ईगर और कॉन्स्टेबिल खड़े हैं, और उनके

बीच में मानों एक आदमी और खड़ा था। यह पोलिकी था, पैर जमीन से छूगये थे, और गर्दन रस्सी के फन्दे में थी।

पुलिस-कर्मचारी ने कहा—"इसका रुख़ पलट दो!"

कोई न हिला।

"एफ़िम, तुम बड़े बहादुर हो! शाबाश!......" ईगर ने कहना शुरू किया।

'बड़े बहादुर' ने आगे बढ़कर लाश का रुख़ फेर दिया, और उत्फुल्ल भाव से कभी मुर्दे को और कभी सामने खड़े हुए साथियों को देखने लगा।

"बस, पहले-जैसा कर दो!" पुलिस-वाले ने कहा।

एफ़िम ने इस आज्ञा का पालन भी उसी दिलेरी-से किया।

"अब इसे उठाकर नीचे ले चलना चाहिये।"

"तो आपकी आज्ञा है न?—रस्सी काट दें?" ईगर ने कहा—"लाना भई, किसी के पास छुरा-वुरा हो तो देना ज़रा!"

'बड़े बहादुर' एफ़िम की मदद से लाश नीचे लाई गई। पुलिस-कर्मचारी ने अगले दिन डॉक्टर के आने की सूचना देकर लाश कपड़े से ढँकवा दी, और सब ने प्रस्थान किया।

---

## १५

दतला सीधा घर पहुँचा। रस्ते में शराबियों की हा-हा, हू-हू सुनाई दी, तोभी वह विचलित न हुआ। जीवन में कभी उसने शराब न पी थी, अनायास-ही इतना धन प्राप्त होजाने पर भी उसका ध्यान उधर आकृष्ट न हुआ, और उसने घर में जाकर-ही दम लिया। रात बहुत बीत चुकी थी। उसकी स्त्री सामने दालान में पड़ी ख़र्राटे लेरही थी, बड़ा लड़का और पोते बराबर की कोठरी में सो रहे थे, और छोटा लड़का बाहरी स्टोर-रूम में अण्टा-ग़ाफ़िल पड़ा था। सिर्फ़ एलिजा की अभागिनी स्त्री जाग रही थी। सिर उसका नङ्गा था, मुँह निष्प्रभ और वस्त्र गन्दे और मैले। दतला घर में घुसा, तो वह खड़ी न हुई, बल्कि ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

बुढ़िया जागी, और स्वामी के लिये भोजन-सामग्री ले आई। एलिजा की स्त्री एक बेञ्च पर पड़कर सुबकने लगी। बुढ़िया ने भोजन-सामग्री मेज़ पर रख दी, और स्वामी के निबट चुकने के बाद धीरे-से हटा दी। बूढ़े ने चुपचाप भोजन समाप्त किया, एक अक्षर भी मुँह से न निकाला। खाने के बाद उसने हाथ धोये, और बुढ़िया के साथ स्टोर-रूम में चला गया। वहाँ दोनों फुस-फुस करके बहुत देर तक बातें करते रहे। फिर अन्त में कोने-वाले भारी सन्दूक़ का ढकना खोलकर उसने लिफ़ाफ़ा रख दिया।

जब वह स्टोर-रूम से बाहर आया, तो मकान में अँधेरा छाया हुआ था। जिस जलती हुई लकड़ी से मशाल का काम लिया जारहा था, वह बुझ गई थी। एलिजा की बहू भी सोगई थी। बेञ्च पर बिना कुछ ओढ़े-बिछाये, हाथ का तकिया बनाकर बेचारी नींद में ग़ाफ़िल होगई थी। दतला ने जूते उतारकर परे रक्खे, और धरती में एक तरफ़ टूटी-सी चटाई बिछाकर पड़ रहा।

नींद उसे जल्दी न आसकी। चाँद निकल आया था। मकान का अँधेरा हल्का पड़ने लगा। बेञ्च पर लेटी हुई एलिजा की बहू उसे दिखाई देती थी, उसके पास-ही कोई और पदार्थ था; न-जाने वह उसके लड़के का कोट था, या पानी का टब था, या कोई आदमी खड़ा था!—न-जाने क्या था……? उसने आँखें फाड़-फाड़कर अँधेरे में देखना शुरू किया।……क्या था? ओ हो! कहीं पोलिकी की प्रेतात्मा तो नहीं है, जिसका भय महल के लोगों को इतना सता रहा था, और जो शायद नोटों के लिफ़ाफ़े के साथ-साथ उसके घर तक चली आई हो!…ओह! दतला का ख़ून सर्द होगया! ज़रूर वही है!…भय-से उसकी आँखें मिंच गईं। पर न तो उसे नींद-ही आई, और न उठकर खड़े होजाने की हिम्मत हुई। सहसा उसे अनुभव हुआ, कि खिड़की के सामने-से कोई गुज़र गया! "कौन था? गाँव का मुखिया तो नहीं था? पर वह आधीरात को भला

क्यों आता ?" उसने सोचा—"अरे ! यह तो कोई घर में-ही घुस आया ! साफ़ पैरों की आवाज़ है !······दर्वाज़ा कैसे खोला ?······हैं ! बुढ़िया आगल लगाना भूल तो नहीं गई ?" इसी-समय गली में कुत्ता भौंका । वैसे-ही कोई मकान के अँधेरे में घूमने लगा, वैसे-ही बर्त्तनों की खड़खड़ाहट-सी सुन पड़ी, वैसे-ही कोई रह-रहकर दीवार में ठोके देने लगा ! बूढ़े की हड्डी-हड्डी काँप गई ! लो ! अब तो साफ़ आदमी की सूरत दिखाई देने लगी । दत्ला ने पहचान लिया—पोलिकी था ! उसने एक-दम उठने की इच्छा की, पर न उठ सका, अङ्ग-अङ्ग शिथिल होगया । उसने अनुभव किया, कि प्रेतात्मा मेज़ के पास पहुँची, और मेज़-पोश उतारकर ज़मीन पर फेंक दिया । फिर उस पर चढ़कर वह फ़र्श पर कूद पड़ी, और उसकी तरफ़ बढ़ने लगी । अब तो बिल्कुल-साफ़ पोलिकी की सूरत थी ! प्रेतात्मा ने दतला की छाती पर हाथ रख दिया, और उसे झकझोरना शुरू किया ।

साथ-ही प्रेतात्मा के ओठ हिले, और आवाज़ सुनाई दी—"रुपया मेरा है !"

"माफ़ करो ! बख्श दो ! अब ऐसा नहीं करूँगा !" दतला ने कहने की कोशिश की, पर मुँह से बोल न निकल सका ।

दतला को ऐसा अनुभव हो रहा था, मानों छाती पर

पर्वत रक्खा है। सहसा उसे याद आया, कि भगवान् का नाम लेने से भूत भाग जाते हैं। उसने कोशिश की, पर नाम भी न ले सका। सहसा पास-ही सोये हुए उसके एक पोते ने ज़ोर की चीख़ मारी, और काँपना शुरू किया। दतला ने लुढ़ककर उसे दीवार के बीच में भींच दिया था! बच्चे की चीख़ ने दतला के ओठ खोल दिये, और उसके मुँह से निकला—"हे भगवान्! बचाइयो......" छाती का बोझ हल्का होता मालूम हुआ। दतला आगे बोला—"भगवान् के द्रोही नष्ट हो जायँ... !" इतना कहा, कि पोलिको की प्रेतात्मा उठ खड़ी हुई, और दर्वाज़े की तरफ़ जाने लगी। दर्वाज़े पर पहुँचकर उसने ऐसा प्रबल प्रहार किया, कि सारा घर हिलता जान पड़ा। दतला बराबर भगवान् का नाम लिये जा रहा था। पर आश्चर्य्य था, कि बाबा-पोते के अतिरिक्त किसी ने कुछ अनुभव न किया। और सारा घर सोता रहा। बाबा पसीने-पसीने होकर, काँपता हुआ भगवान् का नाम ले रहा था, और पोता दीवार और बाबा के शरीर के बीच में भिंचकर चिल्ला रहा था। थोड़ी देर में फिर सब तरफ़ निस्तब्धता छा गई। बूढ़ा निश्चल हो गया। मुर्ग़े ने बाँग दी। मुर्ग़ियों ने पर फटकारने शुरू किये। बिल्ली दतला की टाँगों पर से कूदकर बाहर आयी। दतला ने आँखें मलीं, और जाग उठा। उठकर उसने खिड़की खोली। सवेरा होगया था। गली में अभी तक झुटपुटा था। गाड़ियाँ खिड़की के पास-ही खड़ी हुई थीं।

दर्वाज़ा खोलकर दतला नङ्गे-पाँव बाहर चला। घोड़ा चुप-चाप खड़ा था। गाड़ी से निकालकर उसने घोड़े के आगे दाना डाला, और वापस लौटा। बुढ़िया भी जाग गई थी, और आग जलाने का उपक्रम कर रही थी। दतला ने कहा —"सब को जगादो।" और एक कुल्हाड़ी लेकर वह फिर बाहर गया। जब फिर वापस लौटा, तो अच्छी तरह प्रकाश होचुका था। सारा गाँव जाग उठा था। औरतें दूध के मटके सम्हाले जा रही थीं, नवयुवक खेतों पर जाने की तैयारी कर रहे थे। इगनट घोड़े को साज़ पहना रहा था, और उससे छोटा पहियों को औंग रहा था। एलिजा की बहू ने रोना बन्द कर दिया था, और सबर के साथ उसने नहा-धोकर साफ़ कपड़े पहने थे। अब वह चुपचाप बेञ्च पर बैठी, उस समय की बाट देख रही थी, जब गाड़ी पर बैठकर, पति से अन्तिम भेंट करने के लिये शहर को रवाना होना था।

इस वक्त दतला के चेहरे पर अजीब सख्ती दिखाई देती थी। आकर वह किसी से कुछ न बोला। सन्दूक़ से निकालकर सब से बढ़िया कोट डाटा, कमर में पेटी कसी, और पोलिकी-वाले नोटों का लिफ़ाफ़ा ज्यों-का-त्यों जेब में छुपाकर ईगर मिख़ालोविच के पास चला।

"ज़रा जल्दी करो," चलते-चलते उसने अपने लड़के से कहा—"अभी मिनट-भर में वापस आया!—तब-तक तुम तैयार रहना।......जल्दी...!"

ईगर अभी-अभी उठा था, और चाय पी रहा था। उसे भी शहर जाकर रँगरूटों का चार्ज फ़ौजी अधिकारियों को देना था। दतला को देखकर पूछा—"कहो, कैसे आये ?"

"ईगर भाई, मैं उस लड़के को छुड़ाना चाहता हूँ। मुझ पर इतनी कृपा करो ! कल तुमने मुझसे कहा था—कि एवज़ी मिल सकता है। मैं रुपया ख़र्चने को तैयार हूँ। कृपा करके मुझे बताओ, कैसे—क्या करना चाहिये; हम-लोग तो कुछ जानते-पूछते नहीं।"

"मगर तुमने अच्छी तरह सोच लिया है न ?"

"ख़ूब अच्छी तरह। भाई ईगर, मुझसे उसकी जुदाई नहीं सही जाती। अच्छा, बुरा—जैसा भी था—आख़िर भाई का लड़का था······। मुझे उसका बड़ा ख़याल है !··· असल में यह रुपया सुसरा बड़े-बड़े पाप करा डालता है; इसको तो अत्यन्त तुच्छ समझना चाहिये !···तो, अब मुझे बताओ, कैसे—क्या करना चाहिये······!"

कहते-कहते उसने नोटों का लिफ़ाफ़ा निकालने के लिये जेब में हाथ डाला।

ईगर मिख़ालोविच—जैसीकि इन मौकों पर उसकी आदत थी—बड़ी देर तक चुप खड़ा, ओठ चटख़ाता रहा। तब सोच-विचारकर उसने दो चिट्ठियाँ दतला को दीं, और समझाया, कि शहर में जाकर क्या करना है, किससे मिलना है।

जब दतला घर लौटा, तो एलिजा की स्त्री इगनट के साथ रवाना हो चुकी थी। मोटी घोड़ी भी साज़-सामान से दुरुस्त—तैयार खड़ी थी। दतला ने पेड़ से क़मची तोड़ी, और दूसरी गाड़ी में सवार होकर अन्धा-धुन्ध घोड़ी को हाँक दिया। घोड़ी इतनी तेज़ी-से दौड़ी, कि उसका पेट कमर से जा लगा, और दतला ने आँख उठाकर उस तरफ़ देखा तक नहीं। उसे तो केवल एक-ही ख़याल था, कि कहीं शहर पहुँचने में देर न होजाय, कभी एलिजा फ़ौज पर न चला जाय, और कहीं भूत का धन उसके पास न रह जाय!

दतला की मानसिक अवस्था का पूरा-पूरा चित्रण मैं नहीं करूँगा। मैं सिर्फ़ यही कहूँगा, कि उसका भाग्य उसके साथ था। उस आदमी के पास, जिसके नाम ईगर ने चिट्ठी दी थी, एक एवज़ी तैयार था। उस एवज़ी के सिर पर कुछ क़र्ज़ था, उम्र तेईस बरस की थी, और वह फ़ौज में जाने के बिल्कुल उपयुक्त था। उसका मालिक चारसौ रूबल माँगता था, और दतला ने तीनसौ लगाये। जब तीनसौ पर सौदा न पटा, तो दतला बोला—"अच्छा बोलो, तीनसौ पच्चीस लेते हो?" पर बेचनेवाला भाँप गया, कि अभी और गुन्जाइश है, इसलिये चारसौ-ही पर अड़ा रहा। दतला ने उसका हाथ पकड़ा, और कहा—"तीनसौ पच्चीस नहीं लेने के? ...नहीं लेने के? ...अच्छा बोलो, साढ़े तीनसौ में राज़ी हो? ...अगर नहीं, तो तुम जानो, तुम्हारा काम जाने!"

कहकर दतला ने चल-पड़ने का प्रदर्शन किया।

बेचने-वाले ने बोलने का उपक्रम किया। दतला रुका, और बोला—"हाँ तो—ज्यादे शानपती में आरहे हैं! लो, झटपट रसोद तैयार करदो। ये लो, बीस रूबल के नोट, बयाना जमा करो।"

बेचनेवाला अब भी तैयार न हुआ, और बयाना उसने न लिया। अब भी वह अपने चारसौ रूबल की रट लगाये जा रहा था।

"याद रक्खो, तुम्हारा यह आचरण पाप में शुमार किया जायगा," दतला बोला। फिर ज्यादे सख्त और प्रभाव-पूर्ण स्वर में कहने लगा—"एक दिन सबको मरना है।... याद रक्खो!"

इस डाँट ने बेचनेवाले को पिघला दिया, और वह बोल उठा—"अच्छी बात है, तुम भी क्या कहोगे......!"

बस, सौदा तय हो गया। एवज़ी के नौजवान को जगाया गया। तब दोनों उसके साथ प्रबन्ध-विभाग के दफ़्तर की तरफ़ चले। जिसको भर्ती कराने ले जा रहे थे, वह ख़ुश था। रस्ते में उसने गला तर करने के लिये थोड़ी शराब माँगी। दतला ने कुछ दाम उसे दिये। जब भर्ती के दफ़्तर में पहुँचे, तो उसकी हिम्मत ने जवाब देना शुरू कर दिया। पर दतला और उसके मालिक ने समझा-बुझाकर उसे पक्का-पोढ़ा किया, और मिन्नत-समाजत के बाद तीन

बजे क्लर्क ने उन्हें बुलाया। कुछ देर परीक्षण और प्रश्नोत्तर में लगी, और तब उसके असली कपड़े उतारकर रँगरूटों की पोशाक पहनाई गई, बाल काटे गये, और दूसरे दर्वाज़े से उसे बाहर भेज दिया गया। तब दतला ने रुपया चुकता करके रसीद ली, और उधर चला, जिधर एलिजा था। एलिजा और उसकी पत्नी रसोई-घर के कोने में बैठे थे। दतला वहाँ पहुँचा, तो दोनों चुप हो गये, और विषण्ण नेत्रों से उसकी तरफ़ ताकने लगे। अभ्यासानुसार दतला ने एक प्रार्थना का पद पढ़ा, फिर पेटी खोली, और एक काग़ज़ हाथ में लेकर बाहर कम्पाउण्ड से इगनट और एलिजा की माँ को बुला लिया।

"एलिजा, तुम बड़े बे-इन्साफ़ लड़के हो," तब उसने आगे बढ़कर कहा—"कल रात को तुमने मेरे साथ बड़ा भद्दा व्यवहार किया।......क्या मुझे तुम्हारा ख़याल नहीं था? मुझे वह वक़्त याद है, जब मेरा भाई तुम्हें ज़रा-से को सौंपकर मरा था। समझे? अगर मेरे वश में होता, तो क्या मैं तुम्हें अपने कलेजे से अलहदा होने देता? अब भगवान् ने दया की है, और मैं दौड़ा-दौड़ा आया!......यह लो, यह देखो, काग़ज़......" कहते-कहते उसने काग़ज़ एलिजा के सामने रख दिया।

बाहर से और भी बहुत-से लोग कौतूहल-वश आगये थे। सभी ने असलियत का अनुमान कर लिया, पर बूढ़े

के प्रेम-पूर्ण वक्तव्य के बीच में बोलने की किसी की इच्छा न हुई।

"यह देखो, यह काग़ज़ है। इसके लिये मैंने पूरे चारसौ रूबल ख़र्च किये हैं। अब कभी अपने चचा पर लाञ्छन न लगाना।"

एलिजा उठा, पर निश्चय न कर सका, कि क्या कहे;—इसलिये चुप हो गया। आवेग के कारण उसके ओठ हिल-कर रह गये। उसकी बूढ़ी माँ आगे आई, और रोते-रोते अपने लाल के गले लिपटने को उद्यत हुई, पर बूढ़े दतला ने अधिकार-पूर्ण ढङ्ग से उसे पीछे हटा दिया, और कहना शुरू किया—

"तुमने रात को मेरे विषय में एक बात कही थी। तुम्हारी उस बात ने ख़ञ्जर बनकर मेरा दिल छेद डाला। तुम्हारे बाप ने मरते-मरते तुम्हें मुझको सौंप दिया था, और मैंने तुम्हें सदा अपने लड़कों से ज्यादे समझकर रक्खा; अगर किसी तरह मैंने तुम्हारे साथ कुछ दुर्व्यवहार भी किया था, तो···बात यह है, कि यह ज़माना-ही बुरा है। क्यों भाई लोगो, मेरी बात ग़लत तोनहीं है?"—कहकर वह आस-पास इकट्ठे हुए आदमियों की तरफ़ घूमा। फिर बोला—"यह तुम्हारी बहू रही, और यह तुम्हारी माँ······और यह रहा, तुम्हारे छुटकारे का परवाना। रुपया-पैसा तो सुसरा हाथ का मैल है, मुझे उसका ग़म नहीं, पर मेरी तो यहीं विनय

है, कि परमात्मा के लिये मेरी तरफ़ से अपने भाव शुद्ध कर लो।"

उसने कोट के पल्ले उठाये, और एलिजा और उसकी बहू के आगे घुटने टेककर बैठ गया। उन दोनों ने उसे उठाने की कोशिश की, पर वह तब-तक न उठा, जब-तक-कि उसका माथा ज़मीन से छू न गया। तब कोट के पल्ले झाड़-कर वह एक बेञ्च पर बैठ गया। एलिजा की माँ और बहू के मुँह से खुशी की चीखें निकल पड़ीं, और सब तरफ़ से "धन्य! धन्य!" सुन पड़ने लगा। "यह आदमी का काम नहीं, देवता का है!" एक ने कहा। "रुपया क्या चीज़ है? आदमी के आगे रुपये की औक़ात-ही क्या है?" दूसरा बोला। "कैसी खुशी की बात है! इस विषय में तनिक सन्देह नहीं, कि आदमी नहीं देवता है!" तीसरा कह उठा। सिर्फ़ उन लोगों ने, जो भर्ती होकर जारहे थे, कुछ न कहा, और चुपचाप बाहर चले गये।

दो घण्टे बाद दतला की दोनों गाड़ियाँ शहर-पनाह के बाहर चली जा रही थीं। पहली में—जिसमें पसीने से शराबोर मोटी घोड़ी जुती हुई थी—खुद दतला, और इगनट बैठे-हुए थे। दूसरी में—जिसकी घोड़ी की तरफ़ किसी का ध्यान न था—एलिजा की बहू और उसकी माँ, दुशाला ओढ़े बैठी थीं। एलिजा खुशी-से लाल चेहरा बनाये, घोड़ी की तरफ़ पीठ किये कोच-बक्स पर बैठा था, और खुश होकर माँ और बहू से बातें बनाता जाता था। इन लोगों की बात-

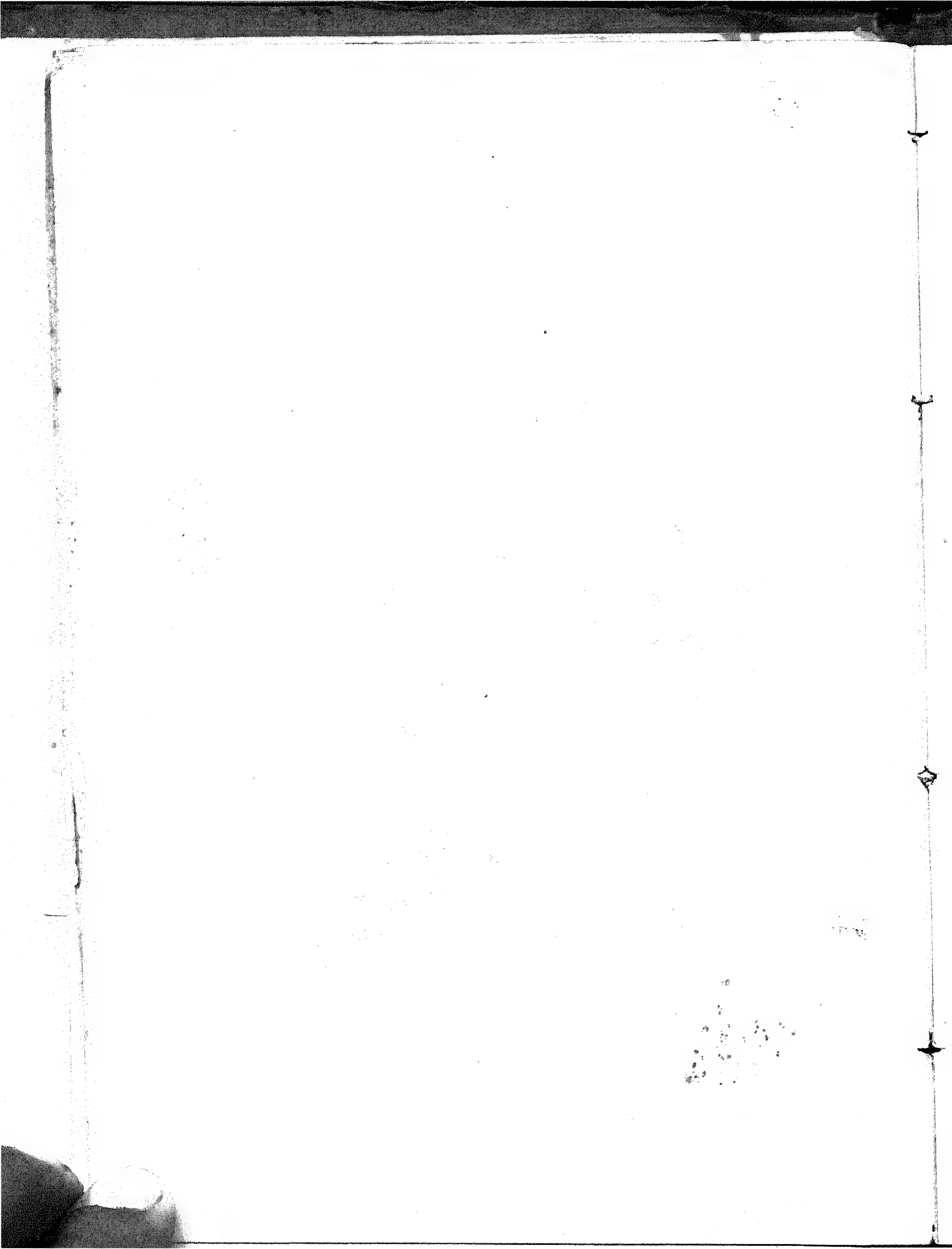
चीत की आवाजें, गाड़ी के पहियों की चर्र-चूँ, और जान-वरों की अजीब ध्वनि—सब ने मिलकर अजीब समाँ बाँध रक्खा था। घोड़ियाँ पूँछ उठाये वर की तरफ़ लपकी चली जा रहीं थीं। जो कोई राहगीर मिलता,तो इस सुखी परिवार को देखने के लिये हठात् ठहर जाता।

सब लोग जल्दी-ही खुले खेतों में आ पहुँचे। अब न सिपाहियों का भय था, न प्यादों की डपट थी, न भर्ती की चिन्ता थी! चार मील तेज़ी-से चलते रहने पर इगनट बाप को सोता छोड़कर एलिजा की गाड़ी के पास आ पहुँचा। शहर से एक शराब की बोतल ख़रीद ली गई थी। अब वह खोली गई, और सब ने मिलकर उसे ख़ाली किया। थोड़ी देर बाद एलिजा ने एक तान शुरू करदी। इगनट भी उमङ्ग में आकर साथ-साथ अलापने लगा। अब तो वह समाँ बँधा, कि घोड़े-गाड़ी का होश न रहा। सामने से एक गाड़ी चली आरही थी। गड़वाले ने चिल्लाकर कहा-“बाँये रहो—बाँये!” पर यहाँ किसे सुनने का होश था? नतीजा यह हुआ, कि गाड़ियाँ लड़ती-लड़ती बचीं, और गड़वाला—लाल-लाल आँखों से इस सुखी परिवार की तरफ़ ताकता हुआ—किसी तरह बचकर आगे निकल गया।

तिसपर भी इनके गाने में कोई विघ्न न पड़ा!

———

# महापाप



# १

मैं बसन्त-ऋतु के शुरू में लम्बे सफ़र पर अनिकला सारा दिन रेल में बैठे-बैठे बीता। थोड़ी-थोड़ी दूर पर स्टेशन आते और लोग चढ़ते-उतरते। पर मेरी-ही तरह डब्बे में तीन मुसाफ़िर ऐसे थे, जो शुरू से-ही ट्रेन में सवार हुए थे। एक तो थी औरत। जवानी से निकल चुकी थी, बार-बार सिगरेट पीती थी, आँखों में चिन्ता और थकान के चिह्न थे, और मर्दों का-सा कोट और टोप पहने हुए थी। दूसरा, एक अधेड़ और बातूनी आदमी था, जो कपड़े-लत्तों से साफ़-सुथरा और उपरोक्त महिला से परिचित था। तीसरा एक अद्भुत जीव था। आँखें उसकी चमकीली और रंगदार थीं, उम्र बहुत-ज़्यादे न होने पर भी घुँघराले बाल सफ़ेद हो चले थे, और चञ्चल आँखें एक जगह न ठहरकर अभी-यहाँ अभी-वहाँ दौड़ती फिरती थीं। एक पुराना ओवरकोट उसके शरीर पर था, जिसकी सिलाई इस बात की साक्षी थी, कि काम किसी कारीगर आदमी के हाथ का है। अस्तरख़ान् का कॉलर उसके गले में, और लम्बी टोपी सिर पर थी। दो-चार बार ओवर-कोट के बटन खोले, तो बिना बाँहों का रूसी कोट और बेल-लगा कुरता साफ़ दिखाई पड़ा। उसकी एक ख़ास आदत यह थी, कि रह-रहकर कण्ठ से एक अजीब

आवाज़ निकालता था; जैसे गला साफ़ करने के लिये खाँसता हो, या खिलखिलाकर हँसने-से सहसा रुक जाता हो !

रस्ते-भर वह साथ के मुसाफ़िरों से बात-चीत करने से बचता रहा। कभी कोई कुछ पूछ भी बैठता, तो संक्षिप्त और रूखा-सा जवाब देकर टाल देता, और या तो पढ़ने लगता, या खिड़की से बाहर झाँकने लगता, या सिगरेट या चाय पीने में, अथवा थैले में-से कुछ निकाल-निकालकर खाने में लग जाता।

यह हज़रत ठीक मेरे सामने विराजमान थे। भाव देख-कर मैंने समझा—अकेला होने के कारण दुखी है। मैंने कई बार बात करने का प्रयत्न भी किया, पर ज्योहीं हमारी आँखें चार होतीं, झट मुँह फेर लेता, और उपरोक्त किसी काम में लग जाता।

अगले दिन शाम को गाड़ी एक बड़े स्टेशन पर ठहरी। तब यह हज़रत उठे, और कहीं-से गर्म पानी लाकर चाय तैयार की। यह साफ़-सुथरा आदमी जिसके विषय में पीछे मालूम हुआ, कि वकील था—और उसकी साथिन, सिगरेट-बाज़ मर्दाने कोटवाली औरत, चाय पीने के लिये रिफ्रेश-मेण्ट-रूम में चले गये।

उनके पीछे कई नये मुसाफ़िर डब्बे में चढ़े। जिनमें एक बूढ़ा आदमी था। उसका क़द लम्बा, जिस्म पर झुरियाँ, और दाढ़ी-मूँछें सफ़ा-चट्ट थीं। शरीर पर उसके धारीदार

कोट था, और सिर पर कपड़े की नोकदार टोपी। आते-ही औरत और वकील के सामने-वाली सीट पर बैठ गया, और साथ-वाले नौजवान से, जो किसी व्यापारी का मुनीम जान पड़ता था, फ़ौरन् बात-चीत शुरू कर दी।

मैं डब्बे के परले किनारे पर बैठा था। रेल थमी खड़ी थी, इसलिये उनकी बात साफ़ सुनाई देती थी। पहले तो बूढ़े ने कहा—"अगले स्टेशन पर मेरी ज़मींदारी है; वहीं उतर जाऊँगा।......"

—तब व्यापार की बात शुरू होगई। मॉस्को का बाज़ार कैसा है, फ़लाँ चीज़ की खपत कैसी है, इत्यादि।

फिर झट 'निशनी-नागर्द' के मेले की बात शुरू होगई। मुनीम एक परिचित अमीर आदमी का ज़िक्र ले बैठा। कैसे रुपया पानी की तरह बहाया, कैसी रँग-रलियाँ मनाईं, कैसी ज़िन्दा-दिली से वक्त़ गुज़ारा!—पर बूढ़े ने बीच-ही में टोक दिया। बोला—"वह!—वह तो अपना जिगरी है! हर साल मैं तो उसके साथ-ही शरीक होता हूँ! अजी, एक दफ़ा बड़ा मज़ा आया। क्या हुआ!—वह था, मैं था, और कई यार-दोस्त थे! बस, बातों-ही-बातों में चढ़ा गये बोतलें की बोतलें! फिर, क्या पूछते हो भई, नशे में मस्त होकर हम लोगों ने जो धमा-चौकड़ी मचाई......"

न-जाने वह 'धमा-चौकड़ी' कैसी थी, कि बूढ़े को मुनीम के कान से मुँह लगाना पड़ा, और मुनीम ने सुना, तो ऐसे ज़ोर-से हँसा, कि सारा डब्बा गूँज उठा!

बूढ़ा भी दो पीले दाँत बाहर निकालकर खिल पड़ा! —जैसे बड़ा तीर मारा हो, या कोई बड़ाई की बात कही हो!

मैंने सोचा—बैठा रहूँगा, तो ऐसी-ही बे-सिर-पैर की बातें सुनूँगा।—इसलिये दर्वाज़ा खोलकर प्लैटफ़ॉर्म पर उतर पड़ा। दर्वाज़े पर-ही वकील और उस औरत से भेंट हुई। दोनों में ख़ूब घुट-घुटकर बातें हो रही थीं।

"अजी जनाब, कहाँ जारहे हैं!" अधेड़ वकील ने मिलनसारी के साथ कहा—"दूसरी घण्टी बजने-ही वाली है।"

उतर तो मैं गया, पर रेल के एक सिरे तक पहुँचते-पहुँचते दूसरी घण्टी बज गई। जब लौटा—तो वकील अपनी साथिन से उसी तरह घुट-घुटकर बातें कर रहा था। बूढ़ा व्यापारी चुपचाप बैठा सामने ताक रहा था।

"तो बस, उसने अपने मर्द को तग्गा-तोड़ जवाब दे दिया,"—वकील मुस्कुराकर कह रहा था—"कहने लगी—तू मेरे क़ाबिल नहीं है, मैं तेरे साथ नहीं रहना चाहती—क्योंकि......"

आगे की बात मैं न सुन सका। कई मुसाफ़िर पीछे से धक्कम-धक्का कर रहे थे, गार्ड बाहर भागा, पोर्टर झट भीतर आया। बस, इसी झमेले में उनकी आवाज़ सुन न पड़ी। जब वातावरण कुछ शान्त हुआ, और बात सुनाई देने लगी, तो उनकी बात का सिल्सिला बदल चुका था।

—कह रहा था—"···होता क्या है! पहले तो विरक्ति, फिर उपेक्षा, फिर रुपये-पैसे का सवाल, फिर रोज़-रोज़ के झगड़े, और हफ़्तों का अन-बोलना!······और फिर झट तलाक़ की नौबत आ पहुँचती है!"

वकील ने देखा—डब्बे-भर में उसी की आवाज़ गूँज रही है। झट बेचारा झेंपकर चुप होगया, और फिर क्षण-भर बाद-ही बूढ़े की तरफ़ देखकर मुस्कुराते हुए बोला—"क्यों साहब ठीक है न? पुराने ज़माने में तो इस प्रकार की वाहियात बातें नहीं होती थीं?"

बूढ़ा कुछ उत्तर देना-ही चाहता था, कि इतने-में गाड़ी चल पड़ी, और बूढ़े-मियाँ ने झट टोपी उतारकर सोने पर हाथ रक्खा, और मन-ही मन जैसे इष्ट-देव का स्मरण किया। तब टोपी सिर पर जमाई, सरककर बैठा, और बोला—"अजी जनाब, होता तो सब-कुछ था, पर आजकल की-सी रेल-पेल और अन्धा-धुन्धी नहीं थी। आजकल··· ·········आजकल लोग ज़रा शिक्षित होगये हैं न, बस······"

रेल की तेज़ी बढ़ती जारही थी, और पटरियों के जोड़ जल्दी-जल्दी आने के कारण बड़ी आवाज़ होती थी। विषय चूँकि ख़ासा मज़ेदार था, इसलिये मैं सरककर ज़रा पास होगया। सामने-वाला वह अद्भुत आदमी भी इस तरफ़ आकृष्ट हुआ, और बिना इधर-उधर सरके, कान लगाकर सुनने लगा।

"वाह ! इस में शिक्षा का क्या दोष है !"—औरत ने मुस्कुराकर कहा—"क्या आप उस दक़ियानूसी युग की वकालत करते हैं, जब विवाह से पहले लड़का-लड़की एक दूसरे की शक्ल तक भी न देख पाते थे ?"—आजकल की पढ़ी-लिखी बातूनी औरतों की तरह उसने बूढ़े की बात समझे बिना-ही दलील छाँटनी शुरू करदी—"न लड़की यह जानती थी, पति-महाशय से पटेगी या नहीं, न लड़का यह जानता था, लड़की से प्यार निभेगा या नहीं,—और एक-दूसरे के गले बाँधकर दोनों का जीवन नष्ट कर दिया जाता था ! आपकी समझ में क्या वह तरीक़ा अच्छा था ? क्यों……?"

—कहते-कहते उसने मेरी तरफ़, फिर वकील की तरफ़ और फिर बूढ़े की तरफ़ देखा।

"बात यह है……बात यह है, कि लोग ज़रा पढ़-लिख ज़्यादा गये हैं न !"—कहते-कहते बूढ़े ने विरक्त होकर औरत की तरफ़ ताका, और चुप होगया।

"क्या मज़े की बात है ! क्यों साहब, ज़रा बताइये तो सही, पढ़ने-लिखने और दाम्पत्य-कलह से क्या सम्बन्ध है !"—अब वकील-महाशय ज़बर्दस्ती मुस्कुराकर बोले।

बूढ़ा बोलने को हुआ, पर औरत ने बीच-ही में टोक दिया—"अजी हज़रत, वह वक़्त हवा हुए, जिनकी याद आप कर रहे हैं !"

"हुँ !" वकील ने ताने की हँसी हँसकर बूढ़े से कहा—"हाँ जनाब, ज़रा बताइये न……"

"साहब, ज़्यादा पढ़े-लिखे लोगों का दिमाग़ ख़राब होजाता है !"—बूढ़े ने दबकर रटे हुए-से कुछ शब्द कह दिये।

"हुँ !—पहले तो बे-जाने-बूझे दुल्हा-दुल्हिन का व्याह कर दिया, और जब दोनों की पटी नहीं, तो अचरज करते हैं—कि क्यों नहीं निभी !" औरत ने पहले मुझे, फिर वकील को और फिर मुनीम को लक्ष्यकर कहा,—जो इस बात-चीत में ख़ूब मज़ा लेता जान पड़ता थ, और जो अपनी जगह से उठकर बूढ़े के कन्धे पर झुका हुआ खड़ा मुस्करा रहा था।—"छीः ! अजी जनाब, लड़के-लड़की क्या हुए, जानवर समझो, जानवर,—मालिक ने जिसको जिससे चाहा, उसको उससे मिला दिया। याद रखिये महाशय, लड़के-लड़की जानवर नहीं हैं; वे हैं मनुष्य, और वे तो उसी से ख़ुश रहेंगे, जिससे उनका दिल मिलेगा ! समझे ?"—ग़रीब बूढ़े को लज्जित करने की साफ़ कोशिश करते हुए उसने अपनी बात का पिछला अंश ख़ूब ज़ोर में भरकर ख़त्म किया।

"ऐसी बात क्यों कहती हैं, आप ?" बूढ़े ने कहा—"जानवर, जानवर रहेंगे; आदमी से उनका क्या मेल? आदमी की बुद्धि और क्षमता को जानवर कहाँ पहुँच सकते हैं ?"

"फिर ? बताइये तो सही, कैसे एक आदमी की दूसरे से निभ सकती है, जब कि न जान हो, न पहचान हो, न प्रेम हो ?"—औरत ने आस-पास के श्रोताओं के मौन-समर्थन से उत्साहित होकर कहा।

"हमारे ज़माने में तो सब इसी तरह निभ जाती थी !" बूढ़े ने साफ़ आवाज़ में कहा—"ये पत्थर तो आजकल-ही पड़ने लगे ! पहले ज़माने में तो ऐसा ख़याल-तक पैदा न होता था। अब क्या होता है ? ज़रा कुछ बात हुई, और बस भई—'तेरा रस्ता वह, मेरा रस्ता यह !'—और-तो-और, मामूली किसानों तक में यह मर्ज़ फैलता जारहा है। औरतों में ऐसी तुनक-मिज़ाजी घर कर गई है, कि—'धत्तेरे मर्दुए की ! ले अपना गहना-कपड़ा ! भर-पाई मैं तुझ से ! जाती हूँ, मैं तो उस गबरू-जवान के साथ ! तू पड़ा-पड़ा झींख !' आई समझ में ? ऐसा वक़्त आगया है ! सच पूछो, तो मरद से डरना औरत का सब से पहला धर्म है।"

मुनीम ने मुस्कुराकर बारी-बारी से मुझे, औरत को और वकील को ताका, मानों इस बात के लिये तैयार था, कि हम लोग बूढ़े की बात का समर्थन करें, तो वह भी समर्थन करे, और विरोध करें, तो विरोध !

"किससे डरना—?" औरत ने पूछा।

"किससे डरना ? अपने मरद से—और किससे ?"

"अजी बुज़ुर्गवार-महाशय !—मरद से डरने का ज़माना

तो गया—गया—वह गया !"—औरत ने मुँह बनाकर, हाथ मटकाकर झट-से जवाब दिया।

"जी नहीं, आप भूलती हैं; वह ज़माना कभी नहीं जा सकता ! मरद हमेशा औरत से श्रेष्ठ रहेगा, और औरत हमेशा मरद से दबेगी—दबेगी—दबेगी !"—कहकर बूढ़े ने मानो विजय-गर्वोन्मत्त होकर इतने ज़ोर-से सिर हिलाया कि कन्धे पर झुके हुए मुनीम को निश्चय होगया, विजय बूढ़े की-ही रही;—और वह खिलखिलाकर ज़ोर-से हँस पड़ा !

"ठीक है ! ठीक है!"—औरत ने दिलेरी के साथ हम लोगों को लक्ष्य कर कहा—"आप मरद लोग, ख़ुद तो मौज-से स्वतन्त्र घूमना चाहते हैं, और बेचारी औरतों को घर की गुड़िया बनाकर ज़िन्दा-दर-गोर करना चाहते हैं !" आप लोगों ने सभी तरह के विधान अपने स्वार्थ के गढ़ लिये हैं ! ठीक है न ?"

"मरद ने ख़ुद कोई विधान-फिधान नहीं गढ़ा है। मरद हमेशा श्रेष्ठ-ही रहेगा। मरद जगत के सारे काम करता है, पर औरत···औरत तो सिर्फ़ बच्चे पैदा करने-वाली बे-पेंदी की लुटिया है !"—बूढ़े ने बड़े तैश में भरकर कहा। स्वर उसका कुछ ऐसा ज़ोर-दार था कि सभी श्रोता उसकी दाद देने लगे। पर वह औरत—कुछ हत-प्रभ हो जाने पर भी—हिम्मत न हारी।

"ठीक है, पर यह तो आप मानेंगे-हो, कि औरत का दिल भी भाव-शून्य नहीं होता ?—वह भी मरद का-सा दिल रखती हैं ! अब बताइये फिर, अगर मरद से उसका दिल न मिले, तो वह बेचारी क्या करे ?"

"दिल न मिले ?"—बूढ़े ने ओठ और भौंह सिकोड़-कर कहा—" दिल कैसे न मिले ?—ज़रूर मिलेगा !"

—बूढ़े की यह अनपेक्षित दलील सुनकर मुनीम जैसे बड़ा खुश हुआ, और उसने चहरे की भाव-भङ्गी से उसका समर्थन किया।

"जी नहीं, कभी नहीं,"— औरत ने कहा—"दिलों को आप ज़बर्दस्ती नहीं मिला सकते !"

"हाँ, अगर फ़र्ज़ करो, औरत की आँख और-किसी से लड़ जाय—तो ?" अब वकील-महाशय बोले।

"अब यह तो सवाल-ही दूसरा है," बूढ़ा बोला—" मरद फिर किस मर्ज़ की दवा है ? उसे इसका ख़याल रखना चाहिये।"

"लेकिन फिर भी अगर वैसा मौक़ा आजाय?—आप जानते हैं, हरेक मरद ख़याल रखता है, फिर भी वैसा मौक़ा आ-ही जाता है।"

"हाँ आजाता है; लेकिन बहुत-ही कम,—और हम लोगों में तो कभी कोई घटना नहीं हुई !" बूढ़े ने कहा—"ऐसा मौक़ा आता कब है ? जब कोई गधा मर्दुआ औरत

पर रोब नहीं रख सकता। रोब रखने के लिये डराने-धमकाने या रोज़ झगड़ा करने की ज़रूरत नहीं है। प्यार हो, या न हो, पर घर में अशान्ति कभी पैदा नहीं करनी चाहिये। मैं तो कहता हूँ—हरेक मरद अपनी औरत को क़ब्ज़े में रख सकता है—रख सकता है; उसे रखना चाहिये।"

सब चुप थे। मुनीम ज़रा आगे सरका, किसी से कम क्यों रहे?—इस भाव से, मुस्कराकर कहने लगा—

"अजी, मेरा एक दोस्त है। उस बेचारे को भी ऐसी-ही परेशानी का सामना करना पड़ा था। बात बहुत-ही बढ़ गई थी। लड़ाई-झगड़ा तो रोज़ की बात हो गई। औरत भी एक-ही छटी हुई लफ़ंगी थी। मरद बेचारा भला आदमी है। औरत ने एक दफ़्तर के बाबू से आँखें लड़ाईं। मरद ने पहले तो भाई-मुन्ना कहकर समझाया, जब बाज़ न आई, और नौबत यहाँ तक पहुँची, कि वह उसकी जेब से रुपया तक उड़ाने लगी, तो मार-पीट शुरू हुई। पर सुधार न कुछ होना था, न हुआ। हुआ क्या—औरत एक मालदार यहूदी से जा फँसी। आख़िर नतीजा यह हुआ, कि झख मारकर ग़रीब ने उसे घर से निकाल बाहर किया। अब ख़ुद रहता है रँडुआ बनकर अकेला, और औरत तुझ-मुझ के पास मुँह काला करती फिरती है। बताइये, वह बेचारा और क्या करता?"

"वह गधा है!" बूढ़ा बोला—"अगर वह शुरू से-ही

उसे छुट्ट-बछेरी की तरह न फिरने देता, और ठीक तरह से उसकी रोक-थाम करता, तो जनाब, मजाल थी, आँख उठा-कर इधर से उधर ताक जाती ! याद रक्खो, शुरू-शुरू की दर-गुज़र बड़ी भयानक होती है। समझे? घोड़े का रण में और औरत का घर में कभी भरोसा न करे !"

सहसा गार्ड अगले स्टेशन के टिकट इकट्ठे करने डब्बे में घुस आया। बूढ़े ने अपना टिकट दे दिया।

"समझे साहब ? अगर समय-रहते औरतों की सँभाल न की जाय, तो सब नष्ट हो जाता है !"

"औरतों की तो सँभाल की जाय और तुम्हारे-जैसे मरद 'निशनी-नागर्द' के मेले में जाकर चाहे ख़ूब मज़ा उड़ा लें !"—मेरे मुँह से सहसा निकला।

"यह बात दूसरी है !" कहकर बूढ़ा चुप हो गया।

गाड़ी सीटी देकर ठहरी, तो वह खड़ा हो गया, सीट के नीचे से अपना बक्स निकाला, कोट के बटन लगाये, और टोपी ज़रा ऊपर सरकाकर डब्बे के बाहर हो गया।

---

२

बूढ़े के जाते-ही कई आवाज़ें एक-साथ निकलीं।

" क्या दक़ियानूसी आदमी है !"—क्लर्क बोला।

" न-जाने किस सदी की पैदायश है ! छीः! स्त्रियों के सम्बन्ध में कैसे भयानक विचार रखता है!"—औरत ने कहा।

" सच बात तो यह है, कि हम लोग योरोपीय विवाह-पद्धति का महत्व नहीं समझते।"—वकील-महाशय ने रिमार्क पास किया।

" सब से बड़ी बात, जो ये लोग नहीं समझते" औरत बोली—" वह यह है, कि बे-मन का विवाह—विवाह नहीं होता। असली विवाह वही है, जो पवित्र प्रेम और आकर्षण के फल-स्वरूप किया जाता है।"

नौजवान मुनीम मुस्कुराता हुआ खड़ा रहा,—मानों इस महत्व-पूर्ण वार्त्तालाप से आगामी उपयोग के लिये कुछ अनुभव ग्रहण करना चाहता है।

बात चल-ही रही थी, कि सहसा हमारे पीछे किसी ने खाँसा। मैंने चौंककर सिर घुमाया, तो देखा—मेरा वही विचित्र और अनबोला साथी खड़ा-खड़ा ध्यान-से हमारी बातें सुन रहा है। हाथ उसके सीट के पीछे को लटके थे, और कुछ उत्तेजित-सा जान पड़ता था। चेहरा उसका सुर्ख़ हो रहा था, और माथे की एक नस फूल गई थी।

"कैसा प्रेम !··· कैसा आकर्षण ! क्या प्रेम और आकर्षण-ही विवाह-सम्बन्ध को चिरस्थायी रखता है ?"—उसने जल्दी-से पूछा ।

"वाह ! 'कैसा प्रेम" क्या ?"—औरत ने उत्तर दिया—"यही स्त्री-पुरुष का साधारण प्रेम !"

"लेकिन स्त्री-पुरुष का साधारण प्रेम कैसे विवाह-सम्बन्ध को चिरस्थायी और पवित्र रखता है ?"—मेरे चञ्चल दोस्त ने तेज़ी-से पूछा । वह सहसा इतना उत्तेजित हो उठा था, कि जैसे औरत के साथ असभ्य व्यवहार करने पर उतारू है ।

उसे उत्तेजित देखकर औरत नरम पड़ गई, और बोली—"सच्चा प्रेम···जब स्त्री-पुरुष में सच्चा प्रेम होता है, तभी विवाह-सम्बन्ध चिरस्थायी और सुखकर होता है !"

"ठीक है, पर यही तो समझ में नहीं आता, कि 'सच्चा प्रेम' है किस चिड़िया का नाम ?"—उसने आँखें चमकाकर, और बुरी तरह मुस्कुराकर कहा ।

"अब यह तो हर-कोई समझ सकता है, कि प्रेम किसे कहते हैं !"—औरत ने कुछ विरक्त स्वर में उत्तर दिया ।—साफ़ मालूम होता था, कि वह इस शख़्स को ज़्यादा मुँह लगाना नहीं चाहती ।

"ख़ैर, मैं तो नहीं समझ सकता ," उसने कहा—"आप बताइये—किसे कहते हैं !"

"वाह ! सीधी-सी बात है !" उसने झट-से कहा, फिर कुछ सम्हलकर सोच में पड़ गई, बोली—"प्रेम वह वस्तु है—जिसके सामने संसार की सभी वस्तुएँ हेच समझी जायँ !"

"सभी वस्तुएँ हेच तो समझी जायँ—पर कब तक ?—महीना-भर, या दो दिन, या आध-घण्टा ?"

"क्षमा कीजिये, आप दूसरी बात ले बैठे हैं,"—औरत ने कहा।

"जी नहीं, बिल्कुल वही।"

"देखिये उनका मतलब है," औरत की तरफ़ इशारा करते हुए वकील-महाशय दार्शनिकों की तरह बोले—"कि, पहले तो, प्रत्येक विवाह-सम्बन्ध से स्त्री-पुरुष में अनुराग—प्रेम—उत्पन्न हो जाना चाहिये। यानी, जिस दम्पति में ऐसा प्रेम उत्पन्न होगया है, उन्हीं का सम्बन्ध चिरस्थायी और सुखकर हो सकता है। दूसरे—अगर कोई विवाह प्राकृतिक अनुराग—या प्रेम कह लीजिये—पर स्थित नहीं होता, तो स्त्री-पुरुष के हृदय में उस बन्धन का अभाव स्वाभाविक है, जो नैतिकता के नाम से पुकारा जाता है।······क्यों, ठीक है न ?"—उसने औरत की तरफ़ ताकते हुए वाक्य समाप्त किया।

औरत ने सिर हिलाकर हामीं भरी।

"इससे यह नतीजा निकला······"

वकील-महाशय ने अपनी स्पीच फिर शुरू की, पर मेरे उस उत्तेजित दोस्त ने—जिसकी आँखें अँगारे की तरह दहक रही थीं, और जो मुश्किल-से अपने भाव को रोके हुए था—उसकी बात काटकर कहा—"जीहाँ, ज्यादा समझाने की ज़रूरत नहीं है, मैं पहले-ही सब-कुछ समझ गया हूँ। यानी एक-दूसरे को दुनियाँ की सब चीज़ों से ज्यादा महत्व दिया जाय!—पर मैं तो यह पूछता हूँ—कि कितने दिन तक?"

"कितने दिन तक?—बहुत दिन तक!—बल्कि जन्म-भर!" औरत ने अपने खवे हिलाकर कहा।

"जीहाँ, यह तो सिर्फ़ उपन्यास के नायक-नायिका में-ही रह सकता है। तेरे-मेरे जीवन में तो यह महत्व हद-से-हद एकाध साल सम्भव है। बल्कि इतने दिन भी लगभग असम्भव है। सच पूछो, तो एकाध महीने, एकाध हफ़्ते, दो-चार दिन, या कुछ घण्टों में-ही ख़त्म होजाता है!"—यह देखकर कि उसकी बात से हरेक सुननेवाला अचरज कर रहा है, उसने सन्तुष्ट होकर कहा।

"वाह! यह क्या कहते हैं आप......?"

—"न! लेकिन देखिये......"

—"देखिये, बात यह है......"

हम तीनों ने एक-बारगी बोलना शुरू किया। यहाँ-तक कि मुनीम के मुँह से भी उसके विरोध में कुछ निकल पड़ा।

"जी, मैं समझता हूँ,"—उसने चिल्लाकर कहा—"आप लोग जो-कुछ कह रहे हैं, वह तो है केवल कल्पना की बात, और मैं जो-कुछ कह रहा हूँ—वह है असली; यानी जो-कुछ होता है। समझे आप ? हरेक आदमी को स्त्री के साथ उस भाव का अनुभव करना पड़ता है, जिसे आप लोग प्रेम कहते हैं, और मैं कहता हूँ, कलह। यानी कम-से-कम एक औरत से तो ज़रूर-ही। समझे आप ? सौ-फ़ी-सदी आदमी इसका अनुभव करते हैं—सिर्फ़ हमीं कष्ट में हैं, सिर्फ़ हमीं ने सच्चा प्रेम नहीं किया, सिर्फ़ हमें-ही गृहस्थ-सुख नहीं मिला है। पर, असल में देखा जाय, तो सभी इस मर्ज़ में मुब्तिला होते हैं। समझे आप ? घर-घर मटियाले चूल्हे होते हैं, साहब !"

"आपकी बातें अजीब हैं ! देखिये, दुनियाँ में ऐसे आदमियों का अभाव नहीं है, जिनका प्रेम महीने या हफ़्ते न रहकर सारी उम्र रहता है।"

"नहीं, कभी नहीं ! अगर यह मान भी लें, कि मर्द किसी औरत को उम्र-भर प्यार करता रहे, तो यह निश्चित् है, कि औरत ज़रूर बे-वफ़ाई करेगी ! जगत् में सदा ऐसा-ही होता आया है, और ऐसा-ही होता रहेगा।"—कहते-कहते उसने अपना सिगरेट-केस निकाला और सिगरेट पीना शुरू कर दिया।

"वाह ! क्या दोतर्फ़ा प्यार नहीं रह सकता ?"—वकील बोला।

"जी नहीं, कदापि नहीं !"—सिगरेट पीता-पीता वह बोला—"दोनों को दोनों से कभी स्थायी सन्तोष नहीं हो सकता। वे औपन्यासिक गधे हैं, जो लिखते हैं, कि कोई स्त्री-पुरुष जन्म-भर एक-दूसरे को प्यार करते रहे ! सिर्फ़ बच्चों को बहलाने-वाली बात……छिः !"

"पर देखिये तो, आप तो सिर्फ़ शारीरिक-प्रेम की बात कर रहे हैं। कभी आपने उस प्रेम पर भी विचार किया है, जो आत्मिक आकर्षण और एक दूसरे के आदर्श और सिद्धान्त समझ लेने के फल-स्वरूप उत्पन्न होता है ?"

"आत्मिक आकर्षण ! आदर्श और सिद्धान्त……!!" उसने अपने कण्ठ से पहले-जैसी अद्‌भुत आवाज़ निकाल-कर कहा—"तो फिर क्यों होते हैं, हम-बिस्तर ? गुस्ताख़ी माफ़ करें। क्या यह लिपट-लिपटकर सोना आदर्श और सिद्धान्त समझने के लिये-ही होता है ? अगर इसीलिये विवाह होता है, तो क्यों नहीं बूढ़े-बुढ़ियाओं का विवाह होता ? क्यों सुन्दर, स्वस्थ और जवान पति या पत्नी की इच्छा परस्पर को जाती है ?" कहते-कहते वह खिलखिला-कर हँस पड़ा।

"देखिये, क्षमा कहें," वकील बोला—"कहें आप कुछ भी, पर देखा तो यही जाता है, कि सभी लोग युवावस्था में ब्याह करते हैं, और अधिकांश हमेशा प्रसन्न और सन्तुष्ट रहते हैं !"

भूरे बालों-वाला अद्भुत आदमी फिर हँसा,और बोला—"पहले तो आप कहते हैं कि ब्याह की तह में आन्तरिक प्रेम और आकर्षण रहना चाहिये। और जब मैं सन्देह प्रकट करता हूँ, कि प्रेम नहीं होता, जो होता है, वह कोरी पाशविक वासना होती है, तो आप युक्ति पेश करते हैं, कि विवाह करके हमेशा सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं। अजी जनाब, इन्हें आप विवाह कैसे कहते हैं, यह तो कोरा धोखा है, धोखा!"

"जी नहीं, क्षमा करें," वकील ने झट-से कहा—"मैं तो सिर्फ़ यह कहता हूँ, कि विवाह हुए हैं, होते हैं, और अर्से-तक पति-पत्नी के स्नेह में अन्तर नहीं आता!"

"जीहाँ, विवाह हुए हैं; और होते हैं। क्यों होते हैं,—क्यों हुए हैं, और किन लोगों ने किये हैं? सिर्फ़ उन्हींने, जो विवाह में एक प्रकार का आध्यात्मिक और अलौकिक बन्धन देखते हैं। जो समझते हैं, कि विवाह करके हम ईश्वर की साक्षी में एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी बन जायेंगे। हम लोगों में विवाह क्यों होता है? केवल पाशविक वासनाओं की पूर्त्ति के लिये। और इसीलिये विवाह एक धोखा बन गया है। आजकल पति-पत्नी भीतर-ही-भीतर तो एक-दूसरे से भयानक घृणा करते हैं, और प्रेम का स्वाङ्ग रचकर सर्व-साधारण की आँखों में धूल झोंकते हैं। यह अवस्था बड़ी भयानक होती है। और अकसर नौबत ज़हर खाने

और गोली मारने-तक पहुँच जाती है,"—कहता-कहता वह इतना उत्तेजित हो उठा, कि एक बार हम सब स्तब्ध रह गये।

"जीहाँ, निस्सन्देह वैवाहिक जीवन में कभी-कभी ऐसी दुर्घटनायें उपस्थित हो-ही जाती हैं," वकील-महाशय ने इस गन्दे प्रकरण बदल देने की इच्छा से कुछ दबकर कहा।

"शायद आपने मुझे पहिचान लिया?" भूरे बालों-वाला नरम पड़कर बोला।

"न, जी, मैं तो नहीं पहिचाना!"

"कोई बड़ा आदमी मैं नहीं हूँ। मेरा नाम पज्नीशाव है। मेरे जीवन में ऐसी-ही दुर्घटना उपस्थित होगई थी, जिसकी ओर आपने अभी सङ्केत किया। अर्थात् मैंने अपनी स्त्री की हत्या कर डाली थी!" उसने जल्दी-जल्दी हम सब पर दृष्टि-पात करते हुए कहा।

किसी की समझ में कुछ नहीं आया, कि क्या कहें। सब चुप रह गये।

"ख़ैर," उसने खखारकर कहा—"ख़ैर, क्षमा करें, आप लोग, मैं अब चुप होजाता हूँ।"

"जी नहीं, जी, नहीं अगर आप······" वकील ने ख़ुद-ही इस 'जी नहीं, अगर आप······' का अर्थ न समझते हुए कहा।

परन्तु पञ्जनीशव बिना उसकी बात सुने, झपटकर पीछे हट गया, और अपनी सीट पर जा बैठा। वकील और उसकी साथिन फुस-फुस करने लगे, मैं पञ्जनीशव के सामने चुपचाप बैठा रहा। कुछ समझ में-ही न आया, क्या बोलूँ, अतएव आँखें मूँदकर सोने का प्रदर्शन करने लगा। बस, सब लोग अगले स्टेशन तक बिल्कुल चुप रहे।

स्टेशन आते-ही वकील और उसकी साथिन दूसरे डब्बे में चले गये। शायद पहले-ही गार्ड से इस विषय में कुछ निश्चित् कर चुके थे। क्लर्क उनकी जगह लेटकर लम्बा पड़ गया। पञ्जनीशव अपनी चाय और सिगरेट में लगा।

"शायद मेरा परिचय पाकर आप मेरे पास बैठने से भी सकुचाते होंगे। क्यों? अगर ऐसा हो, तो कहिये, मैं दूसरे डब्बे में चला जाऊँ?"

"जी नहीं, कभी नहीं; आप बैठिये।"

"बहुत अच्छा,—तो थोड़ी चाय नहीं लीजियेगा? ज़रा तेज़ ज़रूर है पर ख़तरनाक़ नहीं।"

उसने थोड़ी चाय मुझे देते हुए अर्द्ध-सम्बोधन के ढङ्ग से कहा—

"गधे! हमेशा बकते हैं......और......झूठ!...... सरासर झूठ!!"

"क्या कह रहे हैं आप......?" मैंने पूछा।

"मैं तो हमेशा वही एक बात कहता हूँ।—वही इन

लोगों के प्रेम और आकर्षण की बात! आपको नींद तो नहीं आती ?"

"न, बिल्कुल नहीं।"

"तो कहिये तो सुनाऊँ आपको, कैसे उस प्रेम और आकर्षण ने मेरे-हाथों वह विभ्राट् करा दिया ?"

"ज़रूर, अगर आपको कष्ट न हो—!"

"जी नहीं, मुझे तो चुप रहने से-ही कष्ट होता है।··· चाय पीजिये,···क्या बहुत-तेज़ है ?"

चाय सचमुच बहुत तेज़ थी, फिर भी एक प्याला चढ़ा-ही गया।

इसी समय गार्ड डब्बे में चढ़ आया। पज़नीशाव क्रुद्ध और उन्मत्त नेत्रों से उसकी ओर ताकने लगा, और जब-तक वह डब्बे में रहा, चुप बैठा रहा।

———

३

"जो, मैं अपनी बीभत्स गाथा आपको सुनाऊँगा। बीभत्स, अत्यन्त बीभत्स ! पर, सच बताइये, आप सुनना भी चाहते हैं, या नहीं ?"

जब मैंने 'हाँ' में उत्तर दिया, तो क्षण-भर के लिये वह रुका, और तब मुँह पर हाथ फेरकर कहने लगा—

"जब कहने-ही बैठा हूँ तो शुरू से सारी बात कहूँगा। पहले तो यह बताऊँगा, कि क्यों और कैसे मैंने विवाह किया, और विवाह से पहले मैं किस तरह का आदमी था।

"मैं एक अमीर ज़मींदार का बेटा हूँ। तीस बरस की उम्र में मैंने विवाह किया था। ये तीस बरस कैसे बीते ? ठीक वैसे-ही, जैसे हमारी श्रेणी के लोगों के बीतते हैं। यूनिवर्सिटी का मैं ग्रेजुएट ठहरा, और बड़े आदमी का लड़का !—जैसे औरों को चलते देखा, वैसे-ही ख़ुद भी चला। और मज़ा यह, कि अपने-आप को बड़ा-भारी चरित्र-वान् समझता रहा। चरित्र-वान् भला क्यों समझता था ? इसलिये कि मैंने अन्य ज़मींदारों की तरह कभी किसी स्त्री पर बलात्कार नहीं किया था, न मैंने किसी भले घर की स्त्री को लोभ-लालच देकर फ़ुसलाया था, मैं तो कभी व्यभिचार करता भी था, तो सिर्फ़ स्वास्थ्य-रक्षा के विचार से, बिना ज़ोर-ज़ुल्म किये, और बिना किसी को बहकाये-फ़ुसलाये ! और···और मेरी नीचता देखो, कि अपने-आपको चरित्र-

वान् समझता था ! जिन औरतों से मेरा सम्पर्क था; उन पर मेरा कोई स्वामित्व न था, न उनके लिये कोई उत्तर-दयित्व मुझ पर था. मुझे तो बस, अपने मज़े से मतलब था ! बस, इसीलिये मैं अपने काम में कोई ख़राबी नहीं देखता था !! जो औरतें मुझ से विवाह करना चाहतीं, उन से मैं कोसों दूर भागता था। मुझे डर था, कि विवाह होगा, सह-वास होगा, बच्चे होंगे, और अकस्मात् मेरे हाथ-पैर एक अजीब बन्धन में पड़ जायेंगे। वैसे चाहे सहवास भी होता था, और बच्चे भी हुए-ही होंगे, पर मैंने उस सहवास को सहवास, और उन बच्चों को बच्चा न जाना—न जाना ! और बस, यही मेरी सच्चरित्रता थी, और इसी पर मुझे बे-हद घमण्ड था !"

वह-क्षण-भर को रुका, और कण्ठ से वही पूर्व-परिचित ध्वनि निकाली—जैसे कोई नया भाव उसके मन में पैदा हुआ हो।

"और सच पूछो तो," उसने सहसा कहा—"असली व्यभिचार इसी का नाम है! मेरी राय में किसी तरह का सहवास भी व्यभिचार या कमीनापन नहीं है । असली व्यभिचार या कमीनापन तो यह है, कि किसी स्त्री से ऐसा सम्बन्ध रखकर अपने को उसके प्रति ज़रा भी उत्तरदायी न समझा जाय, उसके दुःख-दर्द में ज़रा भी हिस्सा बटाना अपना धर्म न समझा जाय, और उसकी इज़्ज़त-हुर्मत लेकर

चाँदी के कुछ ठीकरे फेंक देने में-ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझली जाय!! हाय! उस वक्त मैं इसे अपना एक बड़ा-भारी गुण समझता था! मुझे एक दफ़ा की बात याद है, एक औरत की इज़्ज़त लेकर मैं बदले में कुछ न दे सका, तो कितना व्याकुल हो गया था! वह तो मेरी सूरत पर रीझकर शर्म गँवा बैठी थी, रुपये की इच्छा उसे थोड़ा-ही थी!—पर मेरा मन तो तब जाकर शान्त हुआ, जब मैंने कुछ रुपया उसे भेज दिया, और मन में कहा, कि उसकी इज़्ज़त का मूल्य मैंने चुका दिया!......न, न, सिर न हिलाओ, मेरे विचारों से तुम्हारा मन नहीं मिलता होगा, ज़रूर नहीं मिलता होगा! मैं सब जानता हूँ। सभी लोग इस क़िस्म के विचार रखते हैं, एक तुम्हीं बेचारे क्या...!—तुम्हारा-ही क्या क़ुसूर?—ख़ैर, क्षमा करो,...पर असल में बात यह बड़ी भयानक है...भयानक!...भयानक!"

"क्या...भयानक?" मैंने पूछा।

"यही......स्त्रियों के सम्बन्ध में......"

"क्या......?"

"यही, स्त्रियों के सम्बन्ध में पुरुषों के और ख़ुद अपने सम्बन्ध में अभागी स्त्रियों के जो विचार हैं...ओफ़्! मैं सहन नही कर सकता! मैं चुप नहीं रह सकता! इसलिये नहीं, कि वह जो अभी यहाँ बैठी-बैठी एक 'दुर्घटना' का ज़िक्र कर रही थी, उस के कारण, बल्कि इसलिये कि

उसी दुर्घटना ने मेरी आँखें खोलदी हैं, और तब से मैं हरेक बात को दूसरे पहलू में देखने लगा हूँ !—हरेक बात उल्टी !—हरेक बात उल्टी !!"

उसने सिगरेट जलाई, और घुटनों पर कुहनी टेककर बोलने लगा।

अँधेरे में उसकी सूरत दिखाई न देती थी। गाड़ी की खड़-खड़ में केवल उसकी प्रभावोत्पादक और मधुर कण्ठ-स्वर सुनाई देरहा था।

"जी, तो लगातार दस बरस तक मैं ऐसे अपमान-पूर्ण दुराचार में प्रवृत्त रहा, और उस समय में किसी पवित्र, और मञ्जुल प्रेम-मूर्त्ति की खोज करता रहा। जी, मैं अब बताऊँगा, कैसे मैंने अपनी स्त्री की हत्या की, और कैसे मैं इस दशा को पहुँचा !

"उससे मिला, और विवाह किया पीछे, पहले मैं उसकी हत्या कर चुका था ! समझे आप? जिस दिन मैं पहली बार औरत से मिला, जिस दिन मैंने पहली बार व्यभिचार किया था, मैं अपनी स्त्री की उसी दिन हत्या कर चुका था ! उसी दिन उसकी भव्यता, पवित्रता और उसका विश्वास जैसे मैं खो चुका था !!

"अच्छा, तो अब आप सुनिये, कब और कैसे, उस 'दुर्घटना' का सूत्र-पात हुआ ! कब हुआ? जब मैं पूरे सोलह बरस का भी नहीं था ! कब हुआ? जब मैं शहर के हाई-स्कूल में पढ़ने जाया करता था, और मेरा बड़ा भाई फ़र्स्ट-

इयर का छात्र था। तब-तक 'स्त्री' के सम्बन्ध में मुझे कुछ ज्ञात नहीं था। पर तब, अपनी कक्षा के सभी अभागे बालकों की तरह, मैं शीघ्र-ही बहुत-सी बातें जान गया। इससे दो साल पहले भी लड़कों ने इस विषय में कुछ बातें मुझे बताई थीं। 'स्त्री' के सम्बन्ध में—किसी ख़ास की बात नहीं कह रहा हूँ—एक तरह की विचित्र अनुराग मेरे मन में पैदा हो चुका था। किसी स्त्री को नग्न देखकर लज्जा के स्थान पर एक प्रकार की सनसनी मेरे मन में होने लगी। एकान्त में मेरे विचार शुद्ध न रहते थे। धीरे-धीरे मैं पतन के गढ़े में गिरने लगा। यहाँ-तक-कि मेरे बड़े भाई के एक हँसोड़ और ज़िन्दा-दिल साथी ने—लानत इस ज़िन्दा-दिली पर!—एक दिन 'वहाँ' चलने का प्रस्ताव कर-ही दिया! हम गये। बड़े-भाई भी साथ थे। वह तो उसी रात को डूब आये नर्क में!—मैं भी समझो, आधा-चौथाई डूब-ही आया!—आधा-चौथाई इस लिये, कि पन्द्रह बरस की कुल मेरी उम्र थी, और मैं पूरी तरह वैसी बातें समझ भी न सकता था!

"पर, बड़े लोगों से मैंने 'उस काम' के सम्बन्ध में कोई बुरी बात न सुनी!—किसी ने यह नहीं कहा, कि 'यह काम" बुरा है। इतना-ही नहीं, बल्कि मैंने तो यहाँ-तक सुना, कि 'वह......' अच्छा है। स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है, और चिन्तायें और व्याधियें भी बहुत-सी दूर होजाती हैं!—और मेरे साथियों ने तो यहाँ-तक कहा, कि शरीर में फ़ुर्त्ती

और तेज़ी लाने के लिये तो 'वह' अनिवार्य-ही है! मतलब यह, कि किसी ने बुरा नहीं बताया। रहा सवाल रोग का? —तो उसका उपाय पहले-ही सोच लिया गया है। दयालु सरकार ने उसका प्रबन्ध भी कर डाला है। वह वेश्याओं के लिये शहर के बाहर स्थान नियत करती है, और इस तरह नवयुवकों के लिये पतन के गढ़े-तक पहुँचने में सहायता देती है। फिर डॉक्टर-लोग जो हैं। वे कहते हैं— स्वास्थ्य-रक्षा के लिये सहवास अनिवार्य है, और इस प्रकार युवकों की व्यभिचार-प्रवृत्ति को भड़काते हैं। मैं ऐसी अनेक माताओं को जानता हूँ, जो 'उस रूप में' अपने लड़कों की स्वाथ्यस्-रक्षा करती हैं!!—और हमारा विज्ञान उनको चकलों में भेजता है !!!"

"आप विज्ञान का नाम क्यों बदनाम करते हैं?" मैंने पूछा।

"क्यों?—डाक्टर-लोग क्या चीज़ हैं?—ये क्या विज्ञान के प्रतिनिधि या पुजारी, या ठेकेदार नहीं? स्वास्थ्य के लिये सहवास को अनिवार्य बनाकर कौन उन्हें नर्क में डुबाता है? वे! कौन सन्तान-निग्रह के उपाय बताकर औरतों को बच्चे पैदा करने से रोकता है? वे! कौन बड़े ध्यान और परिश्रम से आतशक का इलाज करता है? वे!"

"क्यों?—आतशक का इलाज क्यों नहीं...?"

"क्यों कि आतशक का इलाज करना, तो मानों दुरा-

चार को ढाँकना है।—वह तो ठीक ऐसा है, जैसा हरामी बच्चों की परवरिश करने का हस्पताल!"

"वाह! ऐसा कैसे......"

"ख़ैर, मतलब यह, कि आतशक के इलाज के लिये जितना परिश्रम और धन नष्ट किया जाता है, उसका सौवाँ भाग भी अगर दुराचार को जड़ से उखाड़ फेंकने में व्यय किया जाता, तो आतशक का अस्तित्व-ही अब तक नष्ट होगया होता! पर उखाड़ फेंकना कैसा, यहाँ तो व्यभिचार की प्रवृत्ति को उत्तेजन और उत्साह दिया जाता है, और दुराचार को अधिक सुरक्षित, अधिक भय-रहित बनाया जाता है! पर ख़ैर, ज़िक्र इस बात का नहीं है। मैं तो वह सुना रहा हूँ, जो मेरे साथ बीती, और जो कम-से-कम नव्वे-फ़ी-सदी पुरुषों के साथ बीतती है; मैं पतन-गर्त्त में डूब गया! इसलिये नहीं—कि किसी स्त्री की मुख-छवि ने मुझे खींच लिया, बल्कि इस लिये, कि मेरे आस-पास के वातावरण ने मुझे वैसी उत्तेजना दी, वैसी प्रेरणा की, वैसा उत्साह दिया! कुछ लोगों ने तो मेरे काम को स्वाभाविक, और स्वास्थ्य-रक्षा के लिये अनिवार्य बताया, और कुछ ने नौजवानों के विनोद और दिल-बहलाव की आवश्यक सामग्री कहकर मुझे उसके लिये क़तई क्षन्तव्य कहा। मैंने भी समझा—कोई बुरा काम नहीं है, और अध-कचरी वासना लेकर मैं ...डुबकी लगा गया! जैसे मैंने सिगरेट और शराब शुरू की

थी, वैसे ही अब दुराचार शुरू किया। पर, सच कहता हूँ, इस पतन में मुझे पहली बार एक अद्‌भुत और हृदय-विदारक भाव का अनुभव हुआ। एक बार तो रो पड़ने की इच्छा हुई। क्यों हुई? इस लिये—कि मेरा कौमार्य नष्ट हो गया, और स्त्रियों के साथ जो मेरा स्वाभाविक और ईश्वरीय सम्बन्ध था, वह टूट गया! समझे आप? सचमुच उस दिन के बाद जब भी किसी स्त्री से मैं मिला, शुद्ध भावना से नहीं मिला। उस दिन के बाद मैं लम्पट और पापी बन गया! लम्पट की दशा ठीक नशे-बाज़ों की-सी होती है। जैसे नशे-बाज़ कभी प्रकृतिस्थ नहीं रहता, उसी तरह लम्पट और चरित्र-हीन आदमी हमेशा के लिये अपनी स्वाभाविकता और कोमलता को खो बैठता है। जैसे सिर्फ़ चेहरा या आँखें देखकर नशे-बाज़ को पहचाना जा सकता है, वही चरित्र-हीन व्यक्ति के विषय में भी कह सकते हैं। चरित्र-हीन आदमी, चाहे जितनी कोशिश करे, चाहे जितना संयम रक्खे, पर स्त्रियों के साथ उसका पवित्र-सम्बन्ध कभी स्थापित नहीं हो सकता। रास्ते में जाता हो, और किसी औरत पर नज़र पड़ जाय, बस, फिर उसके सारे स्रोत खुल जाते हैं, और आप सुगमता-पूर्वक उस की असलियत को पहचान सकते हैं। सब से मोटी, और सब-से-बड़ी, यही पहिचान है। बस, तो मैं भी चरित्र-हीन बन गया—चरित्र-हीन बना रहा, और इसी के फल-स्वरूप एक दिन मेरा सर्व-नाश होगया!!"

४

"हाय ! इसके बाद की कथा कहते छाती फटती है ! दिन-दिन अवस्था ख़राब होती गई । अब मैं अपनी उन बीभत्स मूर्खताओं को याद करता हूँ, तो रोंगटे खड़े होजाते हैं ! हम लोग—मैं और मेरे जैसे-ही अन्य मनचले नौजवान, जिन्होंने अनगिनत स्त्रियों की इज्ज़त पर हाथ डाला है—जब हम लोग, नहा-धोकर, बन-ठनकर इत्र में बसकर, रंग-रोग़न से टंच होकर, लक-दक करते, किसी होटल या नाच-घर में घुसते हैं, तो मानों पवित्रता और शिष्टाचार के अवतार बन जाते हैं !

"ज़रा विचार तो करो, होना क्या चाहिये, और होता क्या है ! फ़र्ज़ करो, किसी सभा-सोसायटी में कोई आदमी आकर मेरी बहन या पुत्री से बात करता है, और मैं उसके भीतरी जीवन से परिचित हूँ, तो मुझे चाहिये, कि मैं उसे अकेले में लेजाकर कहूँ—'देखो भाई, मैं तुम्हारी सब बातों से वाक़िफ़ हूँ, और किन-किन के साथ, किस तरह तुम्हारी रातें गुज़रती हैं—वह सब मुझे मालूम है। यह जगह तुम्हारे-जैसे आदमियों के लिये नहीं है। यहाँ भले घर की पवित्र और सच्चरित्र लड़कियाँ मौजूद हैं। बस, चलते-फिरते नज़र आओ !' यह तो होना चाहिये ! पर होता क्या है, वह भी सुनो। होता यह है—कि जब ऐसा कोई व्यक्ति हमारी नज़र पड़ता है, और हमारी बहन-बेटियों से घुट-घुट-

कर बातें बनाता है, तो हम उसकी धन-सम्पत्ति के विचार से अपने इस गौरव पर फूले नहीं समाते ! हम समझते हैं—इतना बड़ा आदमी हमारी लड़कियों से मिलता है, तो लोगों की नज़रों में हमारा रुतबा बढ़ता है। यह हम समझते हैं—कि इन भोली लड़कियों को यह पाजी नष्ट कर देगा, पर ध्यान नहीं देते ! —और क्यों ध्यान दें, डॉक्टर-लोग तो हैं-ही, नर्स-दाइयें तो मौजूद हैं, डर किस बात का है ! अगर हमारी कन्या बड़े-आदमी से ब्याही गई, तो सभ्य-समाज में हमारा आदर कितना बढ़ जायगा !—सब-से बड़ा प्रलोभन तो यह है, जो हमारे हाथों हमारी सन्तान का गला कटवाता है ! मैं अनेक ऐसे माता-पिताओं से परिचित हूँ, जिन्होंने बड़े उत्साह के साथ अपनी कन्यायें ऐसे आदमियों को ब्याह दीं, जो भयानक रोगों से पीड़ित थे ! हाय !……हाय !……कैसा अमानुषिक काम है !…पर, एक समय आयेगा, जब यह अमानुषिकता और बीभत्सता नष्ट होजागी—होजायगी !"

उसने पिछला वाक्य कई बार दुहराया, और तब चाय पीने लगा। चाय बहुत-ही तेज़ थी, और ज़रा हल्की करने के लिये वह ऊपर से थोड़ा दूध या पानी भी नहीं मिलाता था। मैं तो दो-ही प्यालों में ग़ाफ़िल-सा होने लगा। शायद उसपर भी चाय असर जमाने लगी थी, क्योंकि धीरे-धीरे वह अधिकाधिक उत्तेजित होता जारहा था। आवाज़ उसकी

धीरे-धीरे अधिक प्रभावोत्पादक होती जाती थी, बार-बार वह इधर-उधर सरककर जगह बदलता था, बार-बार टोपी उतारता-ओढ़ता था, और उस हल्के अन्धकार में उसका मुँह बार-बार अद्भुत रीति से बदल जाता था !

"ख़ैर, तो तीस बरस की उम्र-तक मैं ऐसा जीवन व्यतीत करता रहा। और मज़ा यह कि विवाह को जञ्जाल समझकर भी क्षण-भर के लिये विवाह करने का विचार मेरे मन से दूर नहीं हुआ था, और मैं बराबर किसी शुद्ध और भोली-भाली सुन्दरी की खोज में व्यस्त था। और इसीलिये मैं हरेक सुन्दरी युवती पर अपनी गीध-दृष्टि जमाये रहता था।"—उसने कहना शुरू किया—"यानी मैं ख़ुद तो भयानक व्यभिचार-पङ्क में लिप्त था,और किसी शीलवती भोली-भाली कन्या को अपनी पत्नी बनाना चाहता था।

"अनेकों को मैंने नापसन्द कर दिया, क्योंकि मेरी समझ के मुताबिक़ उनका चरित्र बिल्कुल शुद्ध नहीं था। मेरा दम्भ तो देखो !···हाय ! मेरे-जैसा पापी···और ऐसा घमण्ड !···ख़ैर, अन्त में एक ऐसी मिल गई, जो मुझे पसन्द आई। अच्छे ख़ान्दानी ज़मींदार की लड़की थी। किसी समय में उसका बाप अमीर रहा होगा, पर बेचारा समय के फेर से कंगाल होगया था।

"एक दिन शाम के वक़्त हम दोनों नाव की सैर करके आरहे थे। चाँदनी रात थी, नदी का शान्त जल, छोटी-सी

नाव और दोनों तन-तनहा ! उसकी कसी हुई अँगिया और सुनहरी लटों पर मैं तो निहाल होगया, और निश्चय कर लिया, यही मेरे-लायक़ है । उस वक़्त ऐसा जान पड़ा, कि वह भी मेरे मन का भाव ताड़ गई, और मैंने समझा—मानों मेरे विचार मेरे मस्तक पर लिखे गये हैं ।......ख़ैर, अगले दिन मैंने निश्चय कर लिया, इसी को अपने हृदय-मन्दिर की देवी बनाऊँगा ।

"कैसे अचरज की बात है, कि हम सौन्दर्य्य को-ही अच्छाई समझ बैठते हैं ! जैसे जादू होजाता है ! कोई सुन्दरी युवती हमारे सामने बैठकर चाहे-जैसी बकवास कर जाय, हमें उसकी एक-एक बात बुद्धिमत्ता और गम्भीरता से ओत-प्रोत सुन पड़ेगी ! सुन्दरी स्त्री चाहे-जैसा अनाड़ी-पन कर बैठे, चाहे जो-कुछ तोड़-फोड़ डाले, हमें उसके हरेक काम में शोख़ी और आकर्षण दिखाई देगा। और अगर कोई सुन्दरी बकवास और अनाड़ी-पन न करे, तब तो हम यही समझते हैं—कि दुनियाँ-भर में उसके बराबर गुणवती और शील-वती स्त्री मिल-ही नहीं सकती !

"उस दिन जब घर आया तो मन में आवेग और उल्लास उछला पड़ता था ! बस, मेरे आदर्श की मूर्ति मिल गई ! सभी गुण उसमें पूर्ण रूप से विराजमान हैं । मेरी स्त्री होने के वह सर्वथा उपयुक्त है !......बस, अगले दिन मैंने उसके सामने अपना प्रस्ताव पेश कर दिया !

"हाय ! कैसा अन्धेर है ! आज जितने युवक विवाह करते हैं, हज़ार पीछे उनमें-से एक भी ऐसा नहीं निकलता, जिसने असल विवाह के पूर्व दो-चार, दस-बीस या सौ-पचास बार विवाह न कर डाला हो !! हाँ,कुछ दिन से सुनता हूँ, खुद देखता भी हूँ, कि आजकल अनेक चरित्र-वान् और उत्साही नवयुवक इस बात का प्रचार कर रहे हैं, कि यह बात ( यानी असली विवाह से पहले चरित्र-भ्रष्ट होजाना ) मज़ाक़ में उड़ा देने लायक़ नहीं, बहुत-ही महत्व-पूर्ण और आवश्यक है !!!

"भगवान् इन लोगों को सफलता दें ! पर मेरे ज़माने में दस हज़ार नवयुवकों में-से एक के विचार भी ऐसे न थे ! और दिल्लगी देखो—कि हरेक आदमी इस सत्य से जान-बूझकर अनजान बनता है। जितने उपन्यास छपते हैं, सब में नायक के मनो-भावों का चित्रण किया जाता है, उनके आस-पास के वातावरण, उनकी रहन-सहन, उनकी शान-शौकत के वर्णन् में पृष्ठ-के-पृष्ठ रँगे जाते हैं; और जब नायिका के लिये उसके अलौकिक प्रेम का चित्र खींचा जाता है, तो कोई पाजी औपन्यासिक यह नहीं लिखता, कि इस प्रेम-अभिनय से पहले इन आदर्श नायकों के साथ क्या बीती है !—किस-किस रण्डी के घर पर जूते खाकर आये थे, किस दासी पर कब बलात्कार किया था, किस बावर्चिन को कैसे दाम-फ़रेब में फँसाया था, और किस

मित्र के साथ विश्वासघात करके उसकी स्त्री से मुँह काला किया था ! ये अन्धे औपन्यासिक क्या करते हैं ?—बस, एक सर्वाङ्ग-सुन्दर कथानक की कल्पना, और किसी अच्युत-वीर्य, सर्व-गुण-सम्पन्न नायक-नायिका का चरित्र-चित्रण ! अगर किसी ने हिम्मत करके असली चीज़ तैयार भी की, तो लोग उससे नाक-भौं सिकोड़ते हैं, और उन्हीं के लिये उनको त्याज्य और अछूत बताते हैं, जिन्हें उनकी सब से अधिक आवश्यकता है।—अर्थात् अविवाहित बालिकाओं के लिये !

"हम लोग—कन्याओं के अभिभाविक—करते क्या हैं ? पहले-पहल तो हम कन्याओं पर यह प्रकट करते है, कि ऐसा दुराचार,—छिः ! ऐसी बुरी बात !—जीहाँ, जिसे हम बुरी बताते हैं, और जो हमारे शहरों और गाँवों में यहाँ-से-वहाँ तक चुपचाप आसन जमाये बैठा है—ऐसी 'बुरी बात,' ऐसा दुराचार, कहीं नाम-निशान को भी मौजूद नहीं है—पहले तो इन अबोध कन्याओं पर झूठ-मूठ के लिये यह सिद्ध किया जाता है !

"इसके बाद हम इस झूठी बहाने-बाज़ी के इतने अभ्यस्त होजाते हैं, कि धीरे-धीरे हम यह समझने लगते हैं—कि हम सब लोग बड़े-ही सच्चरित्र हैं, और हम जो कुछ करते हैं, वह कोरा मन-बहलाव है, और चरित्र-हीनता या लम्पटता की कोटि में उसे नहीं रखा जा सकता ! बालि-

कायें, अबोध बालिकायें, हमारी इस बहाने-बाज़ी और झूठे दम्भ पर सहसा विश्वास कर लेती हैं। समझे आप?··· मेरी अभागी पत्नी ने भी इसी तरह विश्वास कर लिया! मुझे याद है, जब हमारा विवाह हुआ, तो कैसे मैंने उसे अपनी डायरी दिखाकर अपने विषय में थोड़ा-बहुत ज्ञान करा दिया था!—ख़ासकर अपने आख़िरी 'कुकर्म' की कथा तो मैंने साफ़ खोलकर-ही उसे सुनादी। क्योंकि मैं जानता था, कि वह बात तो उसे किसी-न-किसी से मालूम हो-ही जायगी, इसीलिये मैंने स्वयं वह भेद खोल देना आवश्यक समझा। हाय! जब उसने वह बात सुनी, तो कैसी घबराई थी!—कैसी डरी थी!—कैसी स्तम्भित हुई थी! मुझे याद है। एक बार तो वह मुझे त्याग देने पर तैयार हो गई! पर ऐसा किया नहीं!······हाय! ऐसा होजाता, तो कितना अच्छा होता!"

उसने फिर चाय पी, और क्षण-भर के लिये ठिठक गया!

---

५

"पर नहीं," सहसा उसने कहना शुरू किया—"मैं तो कहता हूँ, जो हुआ, सो ठीक-ही हुआ। उससे मेरी आँखें खुल गईं, और मैं असलियत को पहिचान सका!……पर ख़ैर, ज़िक्र यह नहीं है। ज़िक्र तो इस बात का था, कि बेचारी अविवाहित लड़कियों को सरासर धोखा दिया जाता है।

"उनकी मातायें सब-कुछ जानती हैं।—जानती क्या, हैं, यों कहो, उनके पति उन्हें सब-कुछ सिखा देते हैं। पर हाय! सब-कुछ जानकर भी वे अनजान बनती हैं, और मरदों की पवित्रता में विश्वास रखकर निहायत गन्दा काम करने पर मजबूर होती हैं। वे तो अपने या अपनी लड़कियों के लिये मरदों को फँसाने के नित-नये हथकण्डे तलाश करती रहती हैं!!

"आप देखते होंगे, कि जो-कुछ हम पुरुष नहीं समझते (या समझना नहीं चाहते)—उसे स्त्रियाँ अच्छी तरह समझती हैं। यानी हम जिस ऊँचे औपन्यासिक प्रेम के राग गाया करते हैं, वह नैतिक गुणों पर निर्भर नहीं होता, बल्कि उसकी नुमायश और समाप्ति तो केवल पाशविक इच्छाओं की पूर्ति और लक्क-दक्क फ़ैशन और रोग़न-पाउडर में-ही होती है। किसी वेश्या के यहाँ जाकर पूछिये—इस ऊँचे औपन्यासिक प्रेम की कितनी गहराई है! वह ख़ूब

समझती है, कि हम मर्दुए झूठ-मूठ को ऊँचे दर्जे के प्रेम का राग गाया करते हैं, असल में तो हम उसके शरीर के, उसके रूप के, उसकी जवानी के, भूखे होते हैं, असल में तो हम उसकी इज़्ज़त पर झपट्टा मारना चाहते हैं। सच्ची बात यह है, कि हम पुरुष यहाँ तक गिर गये हैं, कि अच्छी, रँगीली, फ़ैशन-परस्त और चरित्र-भ्रष्टा स्त्री के मुक़ाबले में सीधी-सादी, फ़ैशन से अनभिज्ञ, सच्चरित्र लड़की को पसन्द न करेंगे! वेश्यायें तो क्या—अबोध बालिकायें तक फ़ैशन-परस्ती के महत्व को समझती हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना-ही है, कि वे अपने अनुभव से इस तथ्य पर पहुँचती हैं, और लड़कियाँ बेचारी अपने माता-पिता-द्वारा उस रँग में रँगी जाती हैं! हाय! हमारा कैसा घोर पतन है!!

"इसीलिये चुस्त बनियानें पहनी जाती हैं, इसीलिये फुदक-फुदककर चलना-बोलना होता है, इसीलिये सुडौल कन्धे, गोरे-गोरे हाथ, क़रीब-क़रीब स्तन भी नङ्गे रक्खे जाते हैं! हरेक औरत, जो पुरुषों के संसर्ग में आचुकी है, और उसके स्वभाव से परिचित होचुकी है, जानती है—कि ऊँचे या सात्विक प्रेम की बात तो ख़ाली बात-ही-बात होती है, पुरुष तो केवल उसके शरीर को अपने भोग की प्रधान वस्तु समझता है;—और कैसा शरीर ?—झूठे और दग़ा देनेवाले ऊपरी रंग-बिरङ्गों से युक्त!!...अगर हम थोड़ी देर के लिये अपने इस गन्दे स्वभाव को, अपने अमानुषिक

कामों को एक तरफ़ रखदें, और तब अपने घर पर नज़र डालें, तो देखेंगे—कि हमारा घर तो अच्छा-ख़ासा चकला बना हुआ है ! हमारी स्त्रियें तो एक प्रकार से वेश्यायें-ही हैं ···क्या ?···आप नहीं मानते ? देखिये, मैं सिद्ध किये देता हूँ ।"—उसने मुझे रोककर कहा—"आप कहेंगे, हमारी स्त्रियों में तो बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जो वेश्याओं में नहीं हैं, हमारी स्त्रियें तो अनेक ऐसे कर्म करती हैं, जो वेश्यायें नहीं करतीं । पर मैं कहता हूँ—नहीं, ऐसा नहीं है, और मैं सिद्ध कर दूँगा । देखिये, अगर दो व्यक्तियों के चरित्रों में कुछ भीतरी अन्तर है, तो उनके बाहरी चरित्र, या भाव-भङ्गी में भी अवश्य-ही अन्तर पड़ जायगा । एक व्यक्ति, जिसका हृदय शुद्ध है, और एक, जिसका हृदय सदा बुरी भावनाओं से पूर्ण रहता है,—उन दोनों की ऊपरी भाव-भङ्गी, बोल-चाल और कार्य-कलाप में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ होगा । पर ज़रा देखिये तो सही, वेश्याओं को और ऊँचे समाज की शिक्षित रमणियों को !—वही कटे-छँटे चुस्त कपड़े, वही फ़ैशन, वही इत्र-फुलेल, वही स्तन, हाथ और कन्धों का उघड़ा-प्रदर्शन, वही तङ्ग और पतले लहँगे, वही कूँगे मटकाकर चलना, वही हीरे-पन्नों की लालसा, वही रुपये-पैसे की अभिलाषा, वही नाच, वही राग, वही रङ्ग !—जैसे वेश्यायें पुरुषों को फँसाने और आकर्षित करने के लिये इनका उपयोग करती हैं, वैसे-ही हमारी शिक्षिता लेडियाँ भी······। ज़रा भी तो फ़र्क़ नहीं है ।—अगर सच

पूछो, तो मैं यह कह सकता हूँ, कि आजकल नीचे दर्जे की वेश्यायें तो तिरस्कार की नजर से देखी जाती हैं, और ऊँचे दर्जे की वेश्याओं का आदर-भाव किया जाता है !!

"ख़ैर, मतलब यह, कि इन्हीं चुस्त अँगियाओं में, सुनहरी लटों में, लक-दक फ़ैशन में, मैं फँस गया...!

"मेरे-जैसे आदमी का फँसना-ही क्या? फँसने के लक्षण तो हम खुद करते हैं। आप जानते-ही हैं, हमें कैसे उत्तेजक पदार्थ खाने को मिलते हैं; और कैसी आरामतलबी में हमारा वक़्त गुज़रता है।—यह दोनों चीज़ें-ही हमारे पतन की मुख्य कारण हैं। समझे आप?—आप आश्चर्य्य करते हैं? जी नहीं, आश्चर्य्य की बात नहीं है; जो मैं कहता हूँ, ठीक-ही है। आश्चर्य्य तो इस पर होना चाहिये कि अभी-तक हम इस तथ्य-तक पहुँचे कैसे नहीं? आप की क्या कहूँ—ख़ुद मैं-ही अब आकर समझा हूँ। मुझे यह देखकर बड़ी वेदना होती है, कि सभी इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं, और उस औरत (जो डब्बे में बैठी थी) की तरह सभी बेकार की बकवास करते हैं! सच पूछिये, तो उत्तेजक, सरस और गरिष्ठ भोजन-ही हमारे पतन का मुख्य कारण हैं, वही हमारे शरीर में उत्तेजना और वासना की लहरें दौड़ाते हैं, इसी कारण हम झूठे सौन्दर्य्य की तरफ़ आँखें मींचकर दौड़ते हैं, और इसी के फल-स्वरूप सब तरह के अनर्थ होते हैं!

"पिछली बरसात का-ही जिक्र है। कुछ किसान हमारे पड़ोस के रेल्वे-लाइन पर काम कर रहे थे। रूखी रोटी, और तरकारी बेचारों को खाने के लिये मिलती थी, और वे लोग ख़ूब हट्टे-कट्टे, प्रसन्न-चित्त रहते थे। एक तरफ़ तो ये लोग हैं, और दूसरी तरफ़ हम लोग हैं; चौबीस घण्टे में सेर-पक्का तो मांस हज़म कर जाते हैं, और दूध, मछली शराब वग़ैरा चीज़ें अलग रहीं। ये सब पदार्थ जाते कहाँ हैं? वासना-पूर्ति में, अतिशय दुराचार-प्रवृत्ति में, और तरह-तरह के उत्पात और अनर्थों में!!—बस, मैं प्रेम में, वासनाओं के तूफ़ान में, सौन्दर्य्य के आकर्षण में उलझ गया!—

"सभी-कुछ उसमें था। नाज़, नज़ाकत, और फ़ैशन—किसी चीज़ की कमी नहीं थी। असल में तो मेरा प्रेम एक तो उसकी माता, या उसके दर्ज़ी की करामात के फल-स्वरूप-ही उत्पन्न हुआ था, और दूसरे वही···अधिक खाने, और ख़ाली पड़े रहने के कारण···! यानी, अगर दर्ज़ी उसका गाऊन, ज़रा चुस्त, उसकी अँगिया ज़रा उभारदार, और उसके बाक़ी कपड़े ज़रा आकर्षक न बनाता, और वह सीधे-सादे कपड़े पहने होती,—दूसरे मैं सेर-सेर मांस और अन-तोल शराब हज़्म न किये होता, तो मुझे निश्चय है, वह मौक़ा न आता, और मैं दिल हाथ से न खो बैठता, और आज आप से जो-कुछ कह रहा हूँ, यह कुछ भी कहने का मौक़ा न आता!

"ख़ैर, मतलब यह, कि सभी-कुछ हो गया। और मैं, मानो पिंजरे में फँस गया!—जी हाँ, पिंजरे में! मज़ाक़ नहीं, आप सच जानिये, आजकल तो शादियाँ क्या की जाती हैं जाल बिछाया जाता है—जाल! होना क्या चाहिये? लड़का स्याना हुआ—और उसका विवाह कर दिया गया। पहले ज़माने में यही होता था। माता-पिता अच्छी लड़की ढूँढ़कर लड़के का ब्याह करते थे, माँ-बाप ज़माने के उतार-चढ़ाव देख चुके होते हैं, वे लोग अपने बच्चों को जान से ज्यादा चाहते हैं। वे समझते हैं, कैसा लड़का, कैसी लड़की उपयुक्त है। ये लोग ऊपरी तड़क-भड़क से प्रभावित नहीं होते, न क्षणिक और नक़ली सौन्दर्य्य-ही उन्हें भ्रम में डालता है। अच्छे लड़के-लड़की के असली पारखी वही हैं, और वही लड़के-लड़कियों के भविष्य की ठीक कल्पना कर सकते हैं। अतएव, वर-वधू चुनने का भार पूर्णतया माता-पिता पर रहना चाहिये। संसार की सभी जातियों में यह रिवाज था, और है।—हिन्दुओं में, मुसल्मानों में, चीनियों में, और ख़ुद हमारी साधारण समाजों में यही रिवाज है! यानी क़रीब-क़रीब नव्वे-फ़ी-सदी लोग इस रिवाज के पाबन्द हैं। सिर्फ़ हमीं कुछ लम्पट इस नतीजे पर पहुँचे हैं, कि यह तरीक़ा ठीक नहीं है। हम लोगों ने एक नया तरीक़ा ईजाद किया है। क्या है यह नया तरीक़ा? यह कि लड़कियाँ बैठ जाती हैं, और लड़के-महाशय पसन्द करने के लिये निकलते हैं।—जैसे बाजार में कुछ खरीदारी

हो रही है ! लड़कियाँ बैठी रहती हैं, और मुँह से न कहती हैं, तो कम-से-कम सोचती तो रहती-ही हैं, कि—'मुझे पसन्द कीजिये !'—'जी नहीं, मुझे !'–'ना, उसे नहीं; मुझे !' –'अजी, और किसी को नहीं, मुझे !—यह मेरे सुडौल कन्धे देखिये, यह बाँहें, यह स्तन, यह चितवन, और यह सूरत !' —और हम पुरुष खूब चक्कर लगाते हैं, और देख-देखकर खुश होते है, और हमारा दम्भ देखिये—कि हम साथ-ही-साथ 'स्त्रियों के अधिकार' के लिये विश्व-विद्यालयों में,प्लेट-फ़ॉर्मों पर लम्बे-लम्बे, जोशीले लेक्चर झाड़ते हैं ! छी ! क्या हज़रत बने-ठने घूमते हैं, और सब-कुछ देख-देखकर खुशी से दुहरे हुए जाते हैं !—और तब क्षण-मात्र में पर्दा गिर जाता है, और वे किसी-न-किसी से फँस जाते हैं—जीवन-भर झींकने के लिये !"

"तब, होना क्या चाहिये ?" मैंने पूछा—"क्या स्त्रियाँ पहल करें ?"

"साहब, मैं यह कुछ नहीं जानता, क्या होना चाहिये, और क्या नहीं होना चाहिये।—मैं तो सिर्फ़ यह कहता हूँ —कि अगर समानता की बात की जाती है, तो सभी बातों में समानता हो। अगर इन नई रोशनी-वालों ने यह आवि-ष्कार किया है, तो मैं कहता हूँ—यह हज़ार बार अनुचित है ! कहने को, दिखाने को, लेक्चर झाड़ने को, लेख लिखने को, तो स्त्रियों के समानाधिकार की चिल्ल-पों मचाई जाय,

और इस मामले में; इस मौक़े पर स्त्रियाँ केवल बाज़ार की तुच्छ वस्तु समझीं जायँ !—ज़र-ख़रीद ग़ुलाम समझी जायँ ! और इधर जब स्त्रियाँ न तो ठीक ग़ुलाम-ही बनना चाहती हैं, न ख़ुद 'पहल' कर सकती हैं, तो जो-कुछ वह करती हैं, उसके लिये बड़े-ही आकर्षक नाम प्रयोग में लाये जाते हैं। क्या…'सभ्य-समाज में निकलना,'—'मनोरञ्जन के लिये' —इत्यादि।—पर मुझसे पूछो, तो इसे और कुछ नहीं, 'पुरुषों को फँसाने का जाल'—कहना चाहिये !…… और अगर किसी लड़की से या उसकी माँ से कह दिया जाय, कि वह या उसकी लड़की 'यह……' कर रही है, तो फिर देखिये तमाशा !…हाय ! हाय ! कैसा भयानक वे समझेंगी ! पर, इसमें ज़रा-भी शङ्का नहीं कि वे यही… करती हैं। सब-से-ज्यादे, भयानक और लोम-हर्षक बात तो यह है, कि भोली-भाली, अबोध लड़कियाँ यह…काम करती देखी जाती हैं !—बल्कि यह कहा जाय, कि ख़ुद माँ-बाप उनसे ऐसा करने की प्रेरणा करते हैं! और खुल्लम-खुल्ला करें तो भी एक बात—सरासर धोखा देते हैं ! 'अजी, हमारी लिली को इन बातों का बड़ा शौक़ है !'—'अजी, गाने-बजाने का तो जैसे उसे व्यसन-ही है !'—'और हाँ, आप क्या नुमायश देखने जा रहे हैं ?— हर्ज न हो, तो इसे भी साथ लेते जाइये !…लड़की है, देख आयेगी।'—और नदी की सैर …!—ख़ैर, मतलब यह, कि सब बहाने-

बाज़ी की तह में एक-मात्र विचार होता है—'लीजिये, इसे ग्रहण कीजिये; लिली को अपनी अङ्क-शायिनी बनाइये;—अजी, देखिये तो सही ज़रा, हर्ज क्या है।—पसन्द न आये ···न सही!' हाय! कैसा घृणित जाल!—कैसा गन्दा प्रपञ्च!"

उसने चाय का प्याला ख़त्म किया, और बर्त्तनों को समेटने लगा।

६

"समझे आप?" उसने चाय के बर्त्तन और अन्य चीज़ें थैले में भरते हुए कहा—"जिन स्त्रियों के आधिपत्य से दुनियाँ-भर के मर्द काँपते हैं, वह यहीं से शुरू होता है।"

"क्या?—स्त्रियों का आधिपत्य?" मैंने पूछा—"उनका कैसा आधिपत्य!—वे तो हमेशा अधिकारों के लिये चिल्लाया करती हैं। कहती हैं—पुरुषों को हर बात में हमसे आगे क्यों रक्खा है? उन बेचारियों का आधिपत्य कहाँ से आया?"

"जी हाँ, यही बात, यही बात!" उसने जल्दी-से कहा—"यही तो मैं भी कहता हूँ। यही तो चमत्कार है, कि एक तरफ़ तो स्त्रियों को पैर की जूती बना दिया गया है, और दूसरी तरफ़ पुरुषों पर शासन करती हैं।—ठीक यहूदियों की तरह। एक तरफ़ तो हम लोग उन्हें नीच समझते हैं, उनसे घृणा करते हैं, और दूसरी तरफ़—जब

रुपये की ज़रूरत पड़ती है, तो हम उनके आगे भीगी बिल्ली बन जाते हैं।—बस, ठीक यही बात स्त्रियों के साथ है। 'अच्छा, तो आप अपनी गर्ज़ की बात करते हैं!—आप हमारे सामने तुच्छ हैं, हम आपकी नाक पकड़कर चाहे-जिधर घुमायेंगे!'—यहूदी लोग तो यह कहते हैं।—और स्त्रियाँ कहती हैं, कि—'अच्छा, तो तुम हमें केवल अपनी वासना-पूर्त्ति का साधन बनाना चाहते हो।—अच्छी बात है, वासना-पूर्त्ति का साधन बनकर हम तुम्हें वह बन्दर का नाँच नचायेंगी, कि याद रक्खोगे!' असल में, वोट देने, या जज-वकील बनने का अधिकार प्राप्त करने से स्त्रियों को समानाधिकार कदापि नहीं प्राप्त होते, न वे इन अधिकारों से सन्तुष्ट होती हैं, उन्हें तो यह बात कष्ट देती है, कि पारस्परिक सहवास करने में उन्हें पुरुषों-जैसा अधिकार नहीं। जिस तरह पुरुष, जब-चाहे स्त्री का उपयोग कर सकता है, उस तरह स्त्री पुरुष का उपयोग करने के लिये स्वतन्त्र नहीं हैं। जिस तरह पुरुष अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ स्त्री पसन्द करने के लिये स्वतन्त्र होता है, इस तरह स्त्री नहीं कर सकती! आप कहेंगे—यह तो अस्वाभाविक है। अच्छी बात है, तो पुरुष भी अपने विशेष अधिकार त्याग दें। इस समय जो अधिकार पुरुषों को प्राप्त हैं, स्त्रियों को वह नहीं हैं।—इस अधिकार-हीनता के प्रतिकार में वह उसकी वासना-पूर्त्ति करती है, और उसे एक प्रकार से अपनी जूती का ग़ुलाम बना लेती है।"

"कैसे बना लेती हैं, जूतो का गुलाम, साहब, मेरी समझ में तो नहीं आया ?"—मैंने कहा।

"कैसे बना लेती हैं ? हर तरह और हर बात में !—किसी बड़े शहर में जाकर दूकानों का चक्कर लगाइये। लाखों-करोड़ों का सामान भरा दिखाई देगा, जिसपर अनतोल परिश्रम व्यय हुआ है।—अब ज़रा देखिये, कि इन में-से कितना सामान ऐसा है जो सिर्फ़ मर्दों के उपयोग में आता है। फ़ैशन का सामान, तेल-फुलेल, इत्र-सुगन्ध, तरह-तरह के चुस्त कपड़े, और बे-इन्तहा चीज़ें स्त्रियों के लिये-ही आपको दिखाई देंगी।

"ज़रा कल-कारख़ानों की गिनती कीजिये। एक बहुत-बड़ी संख्या आप ऐसे कल-कारख़ानों की पायेंगे, जो केवल स्त्रियों के गहने, कपड़े और अन्य सामान तैयार करते हैं। स्त्रियों का ज़रा-सा मन रखने के लिये हज़ारों-लाखों मज़दूर दिन-रात काम में जुटे रहते हैं !—यानी, स्त्रियाँ हज़ारों-लाखों पुरुषों को अपना दास बनाये रखती हैं। और ऐसा क्यों है भला ?—केवल इसलिये—कि उन्हें पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त नहीं हैं !—बस, वे हमारी वासना-पूर्त्ति करके हमें ग़ुलाम बना लेती हैं, और इस प्रकार हमसे बदला लेती हैं !—हमें अपने जाल में फँसा लेती हैं !!

"हमारी वासना और पाशविक इच्छा के कारण क्रमशः स्त्रियों ने अपना रहन-सहन इतना कृत्रिम और मादक बना

लिया है, कि पुरुष उनके साथ ज़रा-देर बैठकर संयम नहीं रख सकता। जैसे-ही कोई पुरुष स्त्री के पास पहुँचा, कि उसकी लक्क-दक्क और बनावट के वशीभूत हुआ! पहले मेरी भी यही दशा थी। जब किसी सुन्दरी को नाच के कपड़ों में देखता, तो उत्तेजना से अचेत-प्राय हो जाता था।—पर अब तो अचेत-वचेत कुछ नहीं, सिर्फ़ भयभीत होजाता हूँ, और उस कृत्रिमता की मूर्त्ति को कोई भयानक वस्तु समझता हूँ। यहाँ-तक-कि कभी-कभी तो ऐसी भयानक वस्तु से रक्षा पाने के लिये किसी पुलिसमैन को बुलाने की इच्छा होती है!

"आप हँसते हैं?"—उसने चिल्लाकर कहा—"मगर यह हँसने की बात नहीं है। समय आयगा, जब लोग इस तथ्य को समझेंगे, और ताज्जुब करेंगे कि किस प्रकार ऐसा समाज जीवित रह सका, जिसमें स्त्रियों को ऐसे हाव-भाव, रहन-सहन, और वस्त्र-आभूषण पहनने की अनुमति थी! समझे आप?—और सुनिये, हमारी समाज की धाँधल-बाज़ी की बात! देखिये, जब जुआ खेलना क़ानूनन् जुर्म है, तो महात्माओं का मन डिगा देने वाले आकर्षक वस्त्राभूषण पहनना स्त्रियों के लिये क्यों नहीं जुर्म समझा जाता? ओह! —जुआ खेलने की अपेक्षा ये हज़ार-गुने भयानक हैं!

"ख़ैर, इस तरह मैं फँस गया।—यानी, लोगों के शब्दों में मुहब्बत में पड़ गया! मैंने उसे सच्चरित्रता की मूर्त्ति समझा, और अपने आप को भी आदर्श समझने की

धृष्टता की। आप जानते हैं, दुनियाँ में, पापी से पापी भी अगर कोशिश करे, तो अपने से बुरे कुछ आदमी पा लेगा, और अपने को उनसे अच्छा समझकर मन में सन्तोष और गौरव प्राप्त करेगा। मैंने भी ऐसा-ही किया। पहले तो, मैंने अपने कुछ साथियों की तरह, रुपये के लिये विवाह नहीं किया था; वह ग़रीब थी, मैं अमीर था।—यानी मेरे प्रेम में रुपये का लालच नहीं था।

"बहुत-से लोग विवाह के बाद भी वही लम्पटों का-सा जीवन बिताते हैं, जैसा विवाह के पहले। मैंने इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया था, कि मैं ऐसा न करूँगा। मेरे गौरव का दूसरा कारण यह था। और इसके लिये मैं अपने को जितना ऊँचा समझने लगा था, उसकी कोई सीमा नहीं। जी हाँ, मेरा मतलब यह है, कि मैं एक नर्क का कीड़ा होते हुए भी, अपनी आत्मा को धोखा देकर देवता बना जारहा था!

"हमारा मोह और आसक्ति-भाव शीघ्र-ही ख़त्म हो गया। उस समय की याद आती है, तो अब भी शर्म से गड़ जाता हूँ। छिः!—प्रेम को तो वासना की नहीं, आत्मा की या स्वर्ग की वस्तु बताया गया है!—अगर आत्मिक संयोग का नाम प्रेम है, तो हमें—शब्दों में, विचारों के आदान-प्रदान में, पढ़ने-पढ़ाने में उसका प्रकाशन करना चाहिये। पर, यह कुछ भी नहीं होता था। जब हम एकान्त

में होते, तो बात करना तो दूर-किनार, मुँह से शब्द निका-लना भी कठिन हो जाता था! बात करने के लिये कोई विषय-ही नहीं सूझता था! हाय! अच्छा होता, अगर हम पशु होते!—बात करने की कोई ज़रूरत-ही न रहती!

"ख़ैर, मेरा 'हनी-मून' शुरू हुआ!—जिसकी बड़ी लम्बी प्रतीक्षा की जाती······क्यों, आप तो नाम सुनते-ही लाल पड़ गये!"—उसने ताना मारकर कहा—"देखिये, मैं एक बार पेरिस गया था। एक दूकान पर साइन-बोर्ड लगा था—जिसपर डाढ़ी लगाये हुए औरत और एक पानी के कुत्ते की तस्वीर थी। मैं भीतर घुसा। कोई ख़ास चीज़ नहीं थी। एक पानी का हौज़ था, उसमें एक नक़ली कुत्ता तैर रहा था, और किनारे पर एक आदमी औरतों के कपड़े पहने खड़ा था। मैं कुढ़कर वापस लौटा। कुछ आदमी इस नुमायश के सामने खड़े थे, दूकान्दार ने मेरी ओर संकेत करके उन लोगों से कहा—'बड़ी बढ़िया नुमायश है! इन महाशय से पूछिये, कितनी बढ़िया है! आइये, देखिये···!' मैं शर्म के मारे यह न कह सका, कि बढ़िया नहीं है, या, कुछ भी नहीं है। ठीक यही दशा उन लोगों की हो जाती है, जो 'हनी-मून' का अनुभव प्राप्त कर चुके होते हैं। ख़ुद तो ठगाये जाते हैं, और दूसरों को बताते शर्म करते हैं। मैंने भी शर्म की थी। पर अब बताते हुए मैं शर्म नहीं करता। बल्कि मैं तो इस सत्य को प्रकट करना आवश्यक

समझता हूँ। तो—क्या होता है?—तबियत ख़राब रहती है, मन लज्जित रहता है, सिर भारी रहता है, और दिमाग़ काम नहीं करता। जब सिगरेट पीना सीखा था, तो-भी शुरू-शुरू में ऐसा-ही अनुभव हुआ था। पीछे जैसे सिगरेट पीने में आनन्द आने लगा, इसी तरह 'उस काम' में भी आनन्द और सुख मिलने लगा—कम-से-कम, स्त्रियों को तो इस पाप का आनन्द पुरुष-ही सिखाता है!"

"वाह! पाप कैसे?"—मैंने पूछा—"मालूम है—यह प्राणी-मात्र का प्राकृतिक कर्म है?"

"प्राकृतिक?" उसने का—"प्राकृतिक? नहीं, मैं आपको बतला दूँ—कि मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ, कि यह काम घोर अप्राकृतिक है।—जीहाँ, बिल्कुल अप्राकृतिक! किसी बच्चे से पूछिये, किसी अबोध बालिका से पूछिये। मेरी छोटी बहन का विवाह एक लम्पट पुरुष से होगया। मुझे याद है, कि सुहाग-रात को जब वह सहसा शयन-गृह से भाग आई थी, और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी थी, तो हम लोग कितने चकित हुए थे! वह रो-रोकर कहती थी—कि 'मैं बता नहीं सकती, कह नहीं सकती—कि वह पापिष्ठ मुझ से क्या कराना चाहता था!'—और आप इसे प्राकृतिक कर्म कहते हैं!!

"भोजन करना प्राकृतिक है।—और भोजन करने में शुरू से-ही सुख मिलता है, पुष्टि मिलती है, आयु बढ़ती है,

और लज्जा का अनुभव भी नहीं होता।—पर यह, यह तो बीमत्स है! लज्जा-जनक है! कष्ट-प्रद है! अप्राकृतिक! यह तो घोर अप्राकृतिक है! प्रत्येक अबोध बालक-बालिका जो इस बीभत्स वातावरण के संघर्ष से बचा हुआ है, इससे घृणा करता है, उससे डरता है, और उसकी ज़रूरत महसूस नहीं करता!"

"तो क्यों जी," मैंने पूछा—"सृष्टि फिर किस तरह चलेगी?"

"जीहाँ, सृष्टि किस तरह चलेगी!"—उसने कुछ ताने के स्वर में क्रोधित होकर कहा—मानों बहुत बार यह प्रश्न सुन चुका है—"जी हाँ, सन्तान-निग्रह का ख़ूब प्रचार किया जाय, ताकि आज़ादी में फ़र्क़ न पड़े—यह बिल्कुल ठीक!—या, इसलिये किया जाय—कि मज़े में कमी न आये—यह भी बिल्कुल ठीक!—पर ज़रा नैतिकता और औचित्य के नाम पर संयम का उपदेश दिया जाय, तो……मेरे ईश्वर! फिर देखो, लोगों की चञ्चलता और जिज्ञासा……! जब लोग कहते हैं—कि ज़्यादा बच्चे पैदा करने अच्छे नहीं हैं, तो क्या आपको यह शंका नहीं होती, कि सृष्टि कैसे चलेगी?"

"ख़ैर, यों सही," मैंने पूछा—"अगर हरेक आदमी सन्तान-निग्रह करना, या कठिन संयम से रहना ठीक या ज़रूरी समझ ले, तो किस तरह मनुष्य-जाति क़ायम रह सकती है?"

उसने सहसा कोई उत्तर नहीं दिया।

"आप पूछते हैं—मनुष्य-जाति किस तरह क़ायम रहेगी?"—उसने दोनों टाँगें फैलाते हुए कहा—"मैं पूछता हूँ—भला क़ायम रहने की ज़रूरत-ही क्या है?"

"ज़रूरत-ही क्या है?—ज़िन्दा रहने के लिये और क्यों?"

"पर ज़िन्दा रहने की-ही क्या ज़रूरत है? जब इस भौतिक जीवन का कुछ मूल्य-ही नहीं है, कुछ उपयोग-ही नहीं है, कुछ उद्देश्य-ही नहीं है, तो फिर इसे रखने की ज़रूरत-ही क्या है? अनेक धर्म इसी सिद्धान्त को मानते हैं, वे कहते हैं, कि आत्मा का सब से बड़ा उपकार मुक्ति में निहित है। वे कहते हैं, इस भौतिक और आवागमन-शील शरीर का नाश करना-ही मुक्ति है।—और प्राणी-मात्र का उद्देश्य यहीं होना चाहिये। मैं कहता हूँ—यह ग़लत है। प्राणियों का—मनुष्यों का—उद्देश्य शरीर के नाश-द्वारा संसार के दुःखों से छुटकारा पाना नहीं है! क्योंकि दुःख-सुख तो पुरुषार्थ के फल-स्वरूप मिलते हैं, और पुरुषार्थ का उद्देश्य उसके परिणाम को नष्ट करना कदापि नहीं होसकता। मनुष्य-मात्र का अन्तिम लक्ष्य है, परमात्म-पद की प्राप्ति। परमात्म-पद की प्राप्ति का एक निर्दिष्ट साधन है, और उस साधन का रहस्य मिलेगा, विश्व-प्रेम और विश्व-कल्याण में। विश्व-प्रेम और विश्व-कल्याण में बाधा

डालने वाली हैं, पाशविक इच्छाएँ।—इन इच्छाओं में कामेच्छा अत्यन्त प्रबल है।—इसी को आजकल प्रेम का नाम दिया गया है—अगर ये इच्छायें, कामेच्छा-सहित, नष्ट कर दीजयँ. तो फिर मुक्ति में क्या सन्देह ? विश्व-प्रेम का प्रचार होजायगा, और मनुष्य-मात्र का उद्देश्य पूर्ण हो-जायगा। बस, फिर जीवित रहने या जन्म लेने की आव-श्यकता-ही क्या रही ? जब-तक मनुष्य-जाति जगत् में विद्यमान् है, एक उद्देश्य उसके समक्ष रहेगा, कुत्ते और सूअरों का उद्देश्य नहीं; कि अनाप-शनाप खा-पी लियाजाय न बन्दरों और पेरिस-वालों का उद्देश्य, कि भोग-विलास, और काम-तृप्ति के लिये नये-नये साधन ढूँढ़े जायें,—बल्कि उच्चता का उद्देश्य, जो पवित्रता और तपस्या के द्वारा पूर्ण किया जा सकता है। मनुष्य हमेशा से इसी उद्देश्य-पूर्त्ति की कोशिश में लगता आया है, और लगता रहेगा। मेरी बात का मतलब समझे ?

"मतलब यह है, कि काम-वासना पतन का द्वार है। अगर हमारी यह नस्ल अपनी उद्देश्य-पूर्त्ति नहीं कर सकी, तो इसका कारण केवल सांसारिक इच्छायें हैं, जिन में कामेच्छा मुख्य है। अगर कामेच्छा कम होजाय; तो नई नस्ल पैदा होगी, जो हमारी अपेक्षा उद्देश्य-पूर्त्ति के अधिक निकट होगी, और अन्त में, सम्भवतः एक दिन मनुष्य-जाति मुक्ति प्राप्त कर लेगी। इसका अर्थ यह है, कि यदि हम

अपनी कृत्रिम सांसारिक विषय-इच्छाओं को कम करते जायँ, तो एक दिन आयगा, जब संसार के सभी प्राणी इन इच्छाओं से रहित होजायेंगे, और—" उसने करारे स्वर में कहा—"विषय-लालसाओं में रत रहकर मनुष्य-जाति जो उद्देश्य अनन्त-काल-तक पूर्ण नहीं कर सकती, वह बहुत-शीघ्र होजायगा।...हाँ, मनुष्य-जाति नष्ट होजायगी! —यह तो अनिवार्य है। योगी उपदेशक, वैज्ञानिक सभी संसार को नाशवान् बताते हैं।— यह तो नाशवान् है-हो!"

७

"अद्भुत कहानी है!"—मैं बोला।

"क्या अद्भुत है? लगभग सभी धर्म कहते हैं, कि संसार नाशवान् है। आधुनिक विज्ञान-वेत्ता भी संसार का नाश अनिवार्य मानते हैं। फिर बताइये—यदि नैतिक उपदेश-द्वारा संसार का अन्त सम्भव होसके, तो क्या ताज्जुब की बात है? 'जो उसका पालन कर सकता है, उसे करना चाहिये।'—यह ईसा मसीह का कथन है। और मैं इस वाक्य का अर्थ अच्छी तरह समझ गया हूँ। हाय! लोग कैसा अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं, और कैसे उल्टे मन्तव्य का प्रचार कर रहे हैं। जो विवाह कर लेते हैं, अर्थात् एक-ही स्त्री से अपनी काम-वासनाओं को तृप्त करते

रहते हैं, उन्हें आदर्श गृहस्थ कहा जाता है, और उस जीवन को स्वाभाविक और प्राकृतिक कहा जाता है। इसके विपरीत यदि कोई स्त्री कुमारी रहने की चेष्टा करती है, तो लोग उसे समाज के लिये भय और हास्य की वस्तु समझते हैं। अनेक ऐसी लड़कियाँ हैं, जो पवित्रता के नाम पर आजन्म कुमारी रहना चाहती हैं, परन्तु जो केवल समाज के भय से विवाह करती हैं। देखिये, कैसी बुरी बात है।—कि सब से ऊँची अवस्था में रहने के भय से नरक-कुण्ड में गिर पड़ा जाय! पर क्या बताऊँ—उस समय मैं धर्म-शास्त्र के इन शब्दों का अर्थ न समझा—कि, 'जो पुरुष वासना-पूर्ण हृदय से किसी स्त्री की ओर देखता है, वह मानसिक व्यभिचार करता है।'—इसका अर्थ उस समय मैंने यह समझा—कि 'किसी स्त्री' से अभिप्राय अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री का है। पर नहीं, अब मैं समझा हूँ, कि यह वाक्य प्रत्येक स्त्री के लिये प्रयुक्त किया गया है। हाय! मैं इस तथ्य को नहीं समझा—और यह सोचता रहा—कि मैं जो इस 'हनीमून' का उपभोग कर रहा हूँ, और अपनी काम-वासनायें तृप्त करता रहा हूँ, यह बिल्कुल ठीक और उचित है! आप जानते है—नये दम्पति विवाह के बाद मौज करने के लिये बाहर जाते हैं—खुद उनके माँ-बाप उन्हें इसकी अनुमति देते हैं! मैं तो कहता हूँ, यह खुल्लम-खुल्ला दुराचार है। और प्रकृति इस अप्राकृतिक कर्म का बदला लेती

है। कैसे ?—मैंने अपने उस 'हनीमून' में दोनों हाथ बिषय-सुख लूटा। नतीजा क्या हुआ ? दिन-भर मरा-मरा-सा रहता, और शीघ्र-ही वह नौबत आगई, जब मेरा हृदय एक अनिर्वचनीय वेदना से व्याप्त रहने लगा। तीसरे या चौथे दिन से मेरी पत्नी भी उदास रहने लगी। मैंने प्यार-से, चुमकार-कर उससे इसका कारण पूछा, तो उसने कुछ उत्तर न दिया; केवल अपने गले में-से मेरी बाँहें निकाल दीं, और रोना शुरू कर दिया। किस लिये ? यह वह बता नहीं सकी। पर वह अत्यन्त दुःखित-सी रहने लगी। शायद उसकी थकी हुई नाड़ियों ने हमारे पारस्परिक सम्पर्क की बीभत्सता से उसे परिचित कर दिया।—पर यह उसकी समझ में नहीं आया कि कैसे अपने मनो-भावों को प्रकट करे। जब मैंने बहुत पूछ-ताछ की—तो कहने लगी, 'माँ याद आती है।' मैंने अनुमान किया, वह झूठा बहाना बना रही है, और उसकी माँ का ज़िक्र चलाये-बिना-ही तरह-तरह की बातें कहकर उसका दिल बहलाने लगा। यह मैं नही समझा—कि उसकी उदासी उसकी माँ की बात चलाकर-ही दूर करनी चाहिये। बस, वह मेरे रवैये से असन्तुष्ट हो गई। मैंने उसकी माँ का ज़िक्र भी न किया, इससे उसने समझा—कि मैं उसका विश्वास नहीं करता। कहने लगी —'देखती हूँ, अब तुम मुझे प्यार नहीं करते !' मैंने चिढ़कर कहा—'तुम्हारा दिमाग़ ख़राब हो गया है !—ज़रा-सी बात

पर तुनुक जाती हो !' —सुनते-ही उसका भाव बदल गया, और खेद की जगह उसके मुख पर क्रोध और क्षोभ का भाव नज़र आने लगा। झट उसके ज़हरीले शब्दों में मुझे डाँटना और बुरा-भला कहना शुरू कर दिया। बोली—'तुम स्वार्थी हो! तुम निष्ठुर हो!…' इत्यादि। मैंने अवाक् होकर उसके मुख को ताका। उसकी भाव-भङ्गी से भयानक क्रोध और घृणा का भाव प्रस्फुटित हो रहा था। मुझे याद पड़ता है—कि मैं उसका यह भाव देखकर एक-बारगी भय-भीत हो गया था। 'यह क्या ?' मैंने सोचा—'क्या इसी का नाम प्रेम है ? प्रेम तो आत्म-बन्धन को कहते हैं !—और उसकी जगह, यहाँ…यह ! असम्भव !—यह कदापि वह नहीं है !' पहले तो मैंने उसे ठण्डा करने की कोशिश की, पर जब वह अधिक उत्तेजित होने लगी, तो मुझे भी गुस्सा आगया, और हम दोनों में अच्छी-ख़ासी तकरार हो गई। पहली तकरार का भयानक प्रभाव हुआ। मैंने इसे तकरार कहा है—पर असल में यह तकरार नहीं, हमारी काम-वासना की तृप्ति का फल था। हम पहले उन्माद को लाँघकर अपने असली रूप में आये थे। उस वक़्त मैं नहीं समझा—कि यह अशान्ति-पूर्ण जीवन-ही गार्हस्थ्य प्रेम का प्रतिविम्ब है। क्यों नहीं समझा ? इस-लिये—कि शीघ्र-ही हम दोनों में सुलह हो गई। फिर वही काम-वासना…… !

"मैंने निश्चय किया—कि यह तकरार हुई, सो हुई, अब आगे ऐसा मौक़ा न आने दूँगा। परन्तु उस 'हनीमून' के महीने में-ही फिर ऐसा मौक़ा आ गया, कि हमारी वासना तृप्त हो गई, और हम एक-दूसरे की व्यर्थता का अनुभव करने लगे।—और फिर वैसी-ही तकरार हो गई। इस दूसरी तकरार ने मुझे पहली से भी ज़्यादा कष्ट पहुँचाया। 'तो पहली तकरार भी अकस्मात् नहीं हुई, बल्कि वह तो अनिवार्य थी, और अब तो आगे भी वैसी तकरार होगी-ही'—मैं इस परिणाम पर पहुँचा। इस तकरार ने मुझे इसलिये भी अधिक कष्ट दिया, कि वह एक व्यर्थ-सी बात पर-ही उठ खड़ी हुई थी। ऐसी बात—जिसकी मैं कभी आशा या कल्पना भी नहीं कर सकता था। कुछ रुपये-पैसे का मामला था, जिसके लिये मैं कभी पीछे नहीं रहा, और अपनी पत्नी के लिये मैंने रुपये-पैसे को कुछ भी नहीं समझा। मुझे याद पड़ता है—कि उसने मेरे किसी वाक्य से यह अर्थ निकाला—कि मैं रुपये के द्वारा उसपर अनुचित आधिपत्य जमाना चाहता हूँ। उसका यह लाञ्छन बिल्कुल असत्य और अस्वाभाविक था। इसलिये मैं बड़ा क्रोधित हुआ, और उसे बुरा-भला कहने लगा। बदले में उसने मुझे तुर्की-ब-तुर्की जवाब दिया। मैंने उसकी आँखों में, और उसकी भाव-भङ्गी में फिर उसी सख्ती और घृणा का आभास पाया, पहले जैसा पा चुका था, और जिसने

पहले मुझे एक-दम स्तम्भित कर दिया था। इससे पहले भाई साहब, पिताजी, और अपने मित्रों से कभी तकरार की नौबत आई थी, तो उनके नेत्रों में मैंने वैसी ज़हरीली चितवन और घृणा नहीं देखी थी। पर, शीघ्र-ही अनुराग और आसक्ति के पर्दे में वह घृणा छुप गई, और मैंने यह कहकर अपनी आत्मा को सन्तोष दिया, कि ये दोनों लड़ाइयाँ अकस्मात्-ही हुईं, और भविष्य में वैसा अवसर न आने दूँगा। पर, अफ़सोस ! तीसरी बार वैसा-ही हुआ, चौथी बार वैसा-ही हुआ, और मैं इस निश्चय पर पहुँचा—कि इसी तरह चलेगा। अपने भविष्य की कल्पना करके एक बार तो मैं सिहर उठा। यह सोचकर मेरे मनमें बड़ा क्लेश हुआ—कि अकेला मैं-ही ऐसा अभागा हूँ—जिसका दाम्पत्य जीवन इतना गर्हित है ! पर, पीछे अनुभव ने मुझे बताया, कि मेरा यह विचार असत्य था, और प्रत्येक दम्पति का जीवन इसी तरह कटता है। उस समय मेरी समझ में यह नहीं आया, कि हरेक स्त्री-पुरुष के साथ यह आफ़त अनिवार्य रूप से लगी हुई है, और मेरी तरह हरेक आदमी सिर्फ़ अपने-आप को-ही अभागा समझता है, और न-सिर्फ़ दूसरे आदमीयों से इस सत्य को छिपाता है,बल्कि अकसर ख़ुद अपने-आपको धोखा देता है।

"शुरू से-ही इन झगड़ों का सूत्र-पात हुआ, और दिन-दिन स्थिति ख़राब हो गई। शुरू के हफ़्तों में-ही मेरे मन में

यह भाव उठा—कि मैंने अपना सर्वस्व खो दिया, और इन बातों की मैंने जैसी कल्पना की थी, वैसी ये नहीं थीं, और विवाह करने में न-सिर्फ कोई आनन्द नहीं है, बल्कि वह एक बड़ा-भयानक बन्धन और भार है। मज़े की बात यह कि मैं अन्त-तक अपनी आत्मा को धोखा देता रहा, और इस सत्य को दूसरों से-ही नहीं,अपनी आत्मा से भी छिपाता रहा। अब मैं अपनी इस स्थिति पर ताज्जुब करता, हूँ—कि क्यों नहीं, मैंने असल बात को समझा ! इसी बात से असल तथ्य समझा जा सकता था—कि हमारी तकरार होने के बाद, हमें यह भी याद न रहता था—कि तकरार किस बात पर शुरू हुई।······और हमारी दशा क्या थी—कि अभी-तो कहा-सुनी होरही है, आँसू बहाये जारहे हैं, और अभी······बस, उस बात को कहते भी शर्म लगती है! अभी तो गन्दे-से-गन्दे वाक्य प्रयोग किये जाते हैं, और क्षण-भर चुप रहकर, नज़र-बाज़ी, मुस्कुराहट, प्रेम, चुम्बन और ······छीः ! कैसी नीचता है ! हाय ! मेरा दुर्भाग्य तो देखिये, कि उस समय यह बात मेरी समझ में नहीं आई !"

———

८

दो नये यात्री आये। उनके बैठ जाने-तक वह चुप रहा, और फिर उसी सिलसिले में कहने लगा—"इस सम्बन्ध में सब से ज्यादे बीभत्स बात यह है—कहने को तो प्रेम स्वर्गीय पदार्थ है, और करने को प्रेम का उपयोग अत्यन्त घृणा-पूर्वक, किया जाता है,—इतनी घृणा-पूर्वक कि उसे याद करते रोमाञ्च होता है, और किसी से कहते शर्म लगती है। यह बात तथ्य से ख़ाली नहीं है, कि प्रकृति ने इस काम को इतना घृणित और लज्जा-पूर्ण बनाया है। जब वह इतना लज्जा-पूर्ण और घृणित है, तो लोगों को अवश्य उससे परहेज़ करना चाहिये। पर, होता क्या है? लोग यह कहने की धृष्टता करते हैं, कि जो-कुछ घृणित और लज्जा-पूर्ण है, वह सौन्दर्य्य-युक्त है। अब यह भी सुनिये—कि मैंने अपने प्रेम का परिचय किस प्रकार दिया? मैंने अपनी पाशविक इच्छाओं का स्खलन सख़्त बे-शर्मी और ज़्यादिती के साथ करना शुरू कर दिया। बल्कि, मेरा पशुत्व देखो!—कि मैं अपनी इस बे-शर्मी और ज़्यादिती पर गौरव का अनुभव करता था। न उस बेचारी की आत्मा का ख़याल था, न शारीरिक स्वास्थ्य का। मैं उस समय इस बात पर बड़ा अचरज करता था—कि क्यों हमारा हृदय नहीं मिलता, और क्यों तकरार होती है; यद्यपि बात बिल्कुल स्पष्ट थी;—यह तकरार और कुछ नहीं, हमारी मानव-प्रवृति का वह तुमुल आन्दोलन था, जो

हमारी अप्राकृतिक पाशविक प्रकृति के विरुद्ध खड़ा हुआ था। या—जैसे दो पापी मन-ही-मन एक-दूसरे पर कुढ़ते या जलते रहते हैं, वही हमारी दशा थी। हम लोग एक भयानक पाप में लिप्त थे। बताइये, क्या यह पाप नहीं है—कि वह बेचारी गर्भवती होगई, और हमारा गन्दा कर्म बराबर जारी रहा? शायद आप सोचते होंगे—कि मैं विषयान्तर कर रहा हूँ। न, कभी नहीं। मैं बता रहा हूँ—किस प्रकार मैंने अपनी स्त्री की हत्या की! जब मेरा मुक़दमा अदालत में पेश था, तो न्यायाधीशों ने मुझ से पूछा था, कि कैसे, और किस वस्तु से मैंने उसकी हत्या की? गधे कहीं के! वे समझते हैं, मैंने ५ अक्तूबर की रात को चाक़ू से उसकी हत्या की। न, उसकी हत्या मैंने उस समय नहीं की, बहुत-पहले-ही कर डाली थी। जिस तरह इस ज़माने में सब लोग कर रहे हैं, सब···सब लोग······"

"लेकिन किस तरह?" मैंने पूछा।

"यह सब से ज़्यादे आश्चर्य-जनक है, कि कोई भी उस वस्तु को नहीं देखता, जो बिल्कुल स्पष्ट और साफ़ है, जिसका प्रचार सारे डॉक्टरों और उपदेशकों को करना चाहिये, पर जिस के सम्बन्ध में लोग चुप बैठे हैं। बात बिल्कुल साफ़ है। स्त्री-पुरुष समाज में जानवरों की तरह स्थित किये गये हैं, और शारीरिक प्रेम का परिणाम गर्भ-धारण और फिर दुग्ध-पान होता है। इन दोनों-ही स्थितियों में शारीरिक

प्रेम, अथवा पाशविक वासना की पूर्त्ति स्त्री और बच्चे के लिये हानिकर है। इससे क्या परिणाम निकलता है? इसे समझने के लिये किसी लम्बी-चौड़ी अक़्ल की जरूरत नहीं है।—सिर्फ़ संयम और सदाचार की आवश्यकता है। पशु-पक्षियों में भी सहवास होता है, परन्तु उनके संयम और सदाचार के कारण-ही उनमें इस तरह की तकरार नहीं देखी जाती, जैसी पुरुषों में। संयम और सदाचार के द्वारा-ही हमें सन्तान का प्रजनन रोक देना चाहिये। पर नहीं। वैज्ञानिकों ने अपना विज्ञान घुसेड़कर एक नया आविष्कार कर डाला है। उन्होंने एक प्रकार के नये कीटाणुओं का आविष्कार करके यह सिद्ध कर दिखाया है—कि स्वास्थ्य और रक्त-शुद्धि के लिये सहवास अनिवार्य है! यानी लोगों को कामुक बनने की प्रत्यक्ष प्रेरणा की है, और बहाना बनाया है!

"बस, तो स्त्री के लिये दो-ही रास्ते रह जाते हैं। एक तो यह—कि वह बिना कान-पूँछ हिलाये चुपचाप पति का अत्याचार सहती रहे, और भीतर-ही-भीतर घुलकर अपने शरीर और स्वास्थ्य का नाश करती रहे; और इससे भी भयानक यह, कि गर्भवती रहकर भी वह अपने पति की पाशविक इच्छाओं की पूर्त्ति करती रहे। उसके शरीर की नाड़ियाँ इसे सहन नहीं कर सकतीं। फल-स्वरूप उसे रोग रोग धर दबाता है। हम लोगों में यह रोग 'हिस्टीरिया' का

दौरा कहलाता है, और और अशिक्षित लोगों में मिर्गी या 'भूत खेलना'। आपने देखा होगा—कि किसी अविवाहित बालिका को कभी हिस्टीरिया या भूत-महाशय नहीं सताते। सदा विवाहित और पति के साथ रहने-वली युवतियों में-ही इनके दर्शन होते हैं। सब जगह यही अवस्था है। हिस्टीरिया के समस्त अस्पताल ऐसी-ही स्त्रियों से भरे पड़े हैं, जिन्होंने प्रकृति का उल्लङ्घन किया। मिर्गी और हिस्टीरिया की रोगिणी स्त्रियाँ तो क़तई स्वास्थ्य खो बैठती हैं। दुनियाँ-भर में ठिगनी-बौनी स्त्रियाँ बहुत-सी देखने में आती हैं। क्यों भला? उसी प्रकृति के नियमों के उल्लङ्घन के कारण। जिस समय स्त्री गर्भवती होती है, या दूध-पीते बच्चे की माँ होती है, तो उसके शरीर का सारा सत्व बालक के पोषण में व्यय होता है। इस प्रकृति के नियम का उल्लङ्घन किया जाता है, और बेचारी स्त्रियों पर निरङ्कुश अत्याचार किया जाता है! धिक्कार है! जो महा-पुरुष घर में स्त्रियों पर ऐसा नृशंस अत्याचार करते हैं, वही प्लैटफ़ॉर्मों पर पहुँचकर स्त्रियों के अधिकार और उनकी स्वाधीनता का राग गाते हैं! छी! धिक्कार है!!"

ये विचार मेरे लिये बिल्कुल नये थे।

"तो फिर, आपके मतानुसार क्या करना उचित है?" मैंने कहा—"इसका अर्थ तो यह हुआ—कि हरेक आदमी अधिक-से-अधिक दो वर्ष में एकबार सहवास करे!"

"ज़रूर करे!"—उसने कहा—"आजकल के पाजी शरीर-वैज्ञानिक इससे अधिक सहवास की आवश्यकता बताते हैं। पर मैं कहता हूँ—वे एक बार विवाहित स्त्रियाँ बनकर देखें, तब अपने आप को इस विषय में कुछ कहने का अधिकारी समझें। उन लोगों की शरारत आपने समझी? कहते हैं—स्वास्थ्य के लिये, यही उचित है—कि मनुष्य अपनी इच्छाएँ हमेशा पूर्ण करे। हाँ, गर्भ और सन्तान इस में बाधक होसकती है! तो उसका उपाय पूछिये—उन बदमाशों से जाकर! उन्होंने इस बला से छुटकारा पाने का उपाय भी सोच निकाला है। हाय! न-जाने ये पापिष्ठ कब दुनियाँ के पर्दे से फ़ना होंगे! स्थिति बड़ी नाजुक होगई है! यहाँ-तक नौबत पहुँची है, कि लोग पागल होकर गोली मार लेते हैं; केवल इसी कारण!—और यह तो अनिवार्य-ही है। पशु-पक्षी जब मादा को गर्भवती देखते हैं—तो यह सोच-कर, कि उनकी नस्ल बढ़ने का साधन होगया, प्रकृति के निय-मानुसार संयम धारण करते हैं। केवल मनुष्य-ही ऐसा प्राणी है, कि वह इस सम्बन्ध में ज़रा नहीं समझता, न समझने की इच्छा करता है। वह तो केवल अपनी इच्छाओं को समस्त उचितानुचित उपायों-द्वारा हर वक़्त शान्त करने में तत्पर रहता है। कौन तत्पर रहता है भला? प्रकृति का सब से सुन्दर जीव—मनुष्य! पशु-पक्षी ऋतु के अनुसार-ही सहवास करते हैं, पर मनुष्य इस सम्बन्ध में बिल्कुल

बे-लगाम रहता है। और मनुष्य की धृष्टता तो देखो, ऐसे बीभत्स कर्म को पवित्र 'प्रेम' का नाम देता है! प्रेम के नाम पर अपने गन्दे कर्म और अपनी पाशविक इच्छा-द्वारा वह नष्ट कर देता है—किसे ?—संसार की एक महान् जाति के आधे भाग को! जो स्त्रियाँ मनुष्य-जाति को सत्य और पवित्रता की तरफ़ लेजाने में सहायता करतीं, यह पापी पुरुष, अपने ज़रा-से मज़े के लिये सहायक की जगह उन्हें पुरुष-जाति का शत्रु बना लेता है! देखिये, कौन है, जो मनुष्य-जाति की उन्नति में बाधक है ? स्त्रियाँ !—और क्यों हैं भला बाधक ? केवल उसी कारण। हाँ, हाँ, उसी कारण हाँ हाँ......" उसने कई बार अन्तिम शब्द दोहराये, और तब जेब से सिगरेट निकालकर जलाई, और पीने लगा। साफ़ मालूम होता था—कि अपने आप को शान्त करने की चेष्टा कर रहा है।

६

"मैं भी ठीक इसी तरह का जीवन बिता रहा था।" उसने कहना शुरू किया—"सब से ज्यादा भयानक और लज्जा-जनक बात यह थी, कि वैसा भयानक जीवन बिताते हुए भी मेरा यह विचार था—कि, क्योंकि मैं अन्य स्त्रियों के पीछे नहीं दौड़ता, अतएव मेरा जीवन एक शुद्ध गार्हस्थ्य-जीवन है, और मैं एक चरित्रवान् व्यक्ति हूँ, और किसी तरह भी दोषी नहीं कहा जा सकता; अतएव यह जो तकरार खड़ी हो जाती है, यह सब उसी के दोष के फल-स्वरूप है।

"वास्तव में अपराध उसका नहीं था। वह भी और बहुत-सी औरतों की तरह साधारण औरत थी। आजकल की सौ-फ़ी-सदी औरतें इसी तरह की हैं, इसी तरह की शिक्षा-दीक्षा उन्हें दी जाती है, इसी तरह के उनके संस्कार पड़ते हैं। लोग कहते हैं—कि स्त्रियों के लिये किसी भिन्न प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। पर यह सिर्फ़ ज़बानी जमा-ख़र्च है। उनकी शिक्षा-दीक्षा तो ठीक वैसी-ही होगी, जैसे विचार उनके सम्बन्ध में पुरुषों के होंगे। पुरुष उन्हें अपनी भोग्य वस्तु समझते हैं। इसलिये स्त्रियों को तो शुरू से-ही, बचपन से-ही, पुरुषों को आकर्षित करने की शिक्षा दी जाती है। पुरुष उनके सम्बन्ध में ऐसे विचार रखते हैं! और मज़ा देखिये—कि इसे प्रकट नहीं करते। बहुत-से तो

कहते हैं—स्त्री देवी है, शक्ति है, श्रद्धा और भक्ति की वस्तु है, और बहुत-से कहते हैं, आदर को। किसी स्त्री का रूमाल गिर जाय, तो झट लपककर उसे उठा देने में, बैठने की जगह न हो तो, खुद खड़े होकर उसे जगह देने में, शासन-तन्त्र में स्त्रियों के लिये बड़े-से-बड़े पद देने को वकालत करने में, पुरुष अपना बड़ा-भारी गौरव समझते हैं, और स्त्रियों का बड़ा-भारी आदर। यह सब-कुछ होता है, पर स्त्रियों के विषय में उनका दृष्टि-कोण रहता वही है, अर्थात् वे उन्हें पूर्ण रूप से भोग्य वस्तु समझते हैं!—और स्त्रियाँ ख़ुद इस बात को समझती हैं, और अपनी दासता का पूरा-पूरा ज्ञान रखती हैं। दुनियाँ की नज़रों में चाहे पुरुष उन्हें आँखों पर रक्खे फिरें, वे अच्छी तरह समझती हैं, कि उनकी दासता इसी बात में है—कि पुरुष उन्हें अपनी काम-वासना तृप्त करने का एक साधन समझते हैं, और अपने इस विचार को न्याय्य मानते हैं। पुरुष उनको विश्व-विद्यालयों और न्यायालयों में ऊँचे-ऊँचे पद देते हैं, पर वे इसमें अपना बड़प्पन या मान नहीं समझतीं। उनके बड़प्पन का रहस्य तो रात को शयन-गृह में खुलता है।—और अगर सच कहें, तो असली वेश्या-वृत्ति और व्यभिचार का ताण्डव-नृत्य वेश्याओं के मुहल्लों में नहीं, सद्गृहस्थों के घरों में होता है! बस, पुरुष स्त्रियों के अधिकार का नाम ले-लेकर चाहे जितना चीख़ें, जब-तक वे उनके सम्बन्ध में अपने

व्यक्तिगत विचार ऐसे रक्खेंगे, कभी स्त्रियों का उत्थान नहीं हो सकता। वे बेचारी अब करें क्या?—या तो उन बद-माश डॉक्टरों की सलाह से सन्तान-निग्रह करेंगी—अर्थात् अपनी स्थिति को पशु से भी गई-बीती बनाकर, एक जड़-वस्तु के समान हो जायँगी—और या तरह-तरह के मान-सिक, शारीरिक रोगों से कष्ट भोगेंगी। हाई-स्कूलों और कॉलेजों की शिक्षा भी इस परिणाम को नहीं रोक सकती। यह तो तभी रुक सकता है, जब स्त्रियों के सम्बन्ध में पुरुषों के व्यक्तिगत विचार बदलें, और ख़ुद अपने सम्बन्ध में स्त्रियों की कल्पना में अन्तर आवे, और वे इस समय अपने आप को जितनी गिरी हुई समझती हैं, उससे ऊँची सम-झने लगें। यह तो तभी रुक सकता है—जब स्त्रियाँ विवा-हित जीवन और विषय-भोग की जगह संयम, सदाचार और कौमार्य को अपनी उच्चतम स्थिति समझें। जब तक यह परिवर्त्तन न आयगा, हरेक लड़की वह चाहे-जितनी पढ़ी-लिखी हो, अपना उद्देश्य एक-मात्र पुरुषों को आकर्षित करना रक्खेगी, ताकि वह अच्छे-से-अच्छे पुरुष को चुन सके, या दूसरे शब्दों में, उसकी पाशविक वासना-पूर्ति का साधन बनकर अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारे! जीवन-भर उसका लक्ष्य केवल पुरुष को आकर्षित करना-ही रहता है। अविवाहित अवस्था में तो इसलिये, कि यदि अनेक पुरुष उसपर आसक्त हों, तो वह अच्छे-से-अच्छा चुन सके, और विवाह होने पर इसलिये कि वह अपनी रूप-राशि के द्वारा

पुरुष पर कुछ अंशों में प्रभुत्व स्थापित रख सके, अथवा साधारण आवश्यकताओं के लिये निष्ठुर पुरुष उसकी अवहेलना न करे।

"एक बात ऐसी है—जो इस दुराचार-प्रवृत्ति में बाधक होती है। वह है—बच्चों की पैदाइश। पर, पाजी डॉक्टर-लोग फिर बीच में आ कूदते हैं। जच्चा को ज़रा-सी तकलीफ़ हुई, और उनकी ज़रूरत पेश हो जाती है। वे आते हैं बड़ी शान के साथ, और पागलों की तरह स्त्रियों का अङ्ग-अङ्ग उघाड़कर देखते हैं, और झट फ़तवा पास कर देते हैं—'जच्चा इस योग्य नहीं है, कि वह बच्चे का लालन-पालन कर सके, अतएव दाई की व्यवस्था होनी चाहिये।' मेरे साथ भी ऐसा-ही हुआ। पहला बच्चा पैदा हुआ, तो मेरी व्यभिचार-प्रवृत्ति कुछ दिनों के लिये रुक गई थी, पर इन डॉक्टर-लोगों की दया से बच्चा धाय को सौंप दिया गया, और मेरे पाप-कर्म का रुका हुआ प्रवाह फिर जारी हो गया!!......"

मैंने पूछा—"आप डॉक्टर-लोगों के बड़े विरोधी जान पड़ते हैं?"

"विरोध-बे-विरोध का प्रश्न नहीं है," उसने कहा—उन लोगों ने मेरा जीवन नष्ट कर दिया है, और इसी तरह नित्य हज़ारों-लाखों का कर रहे हैं। मैं जो उनके विरुद्ध इतनी बातें कह रहा हूँ, उससे आप यह अनुमान न लगायें,

कि मैं किसी व्यक्तिगत शत्रुता के कारण ऐसा कर रहा हूँ। मैंने तो दुःखी गृहस्थ-जीवन के कारण और परिणाम पर अच्छी तरह विचार किया है, और अच्छी तरह उसका अनुभव किया है, तब इस नतीजे पर पहुँचा हूँ। मैं तो कहता हूँ—अगर डॉक्टर-लोग इस बात को क़स्म खालें, कि वे हमारे दाम्पत्य-जीवन में ज़रा भी नुक़्ता-चीनी न करेंगे, तो मैं अपनी आधी दौलत उन्हें देने को तैयार हूँ।—और मैं तो यह भी कहता हूँ—कि हरेक आदमी, जो यह जानता है, कि वे हम लोगों का कैसा भयङ्कर अहित कर रहे हैं, अपनी आधी कमाई ख़ुशी से उनकी भेंट कर देगा। ऐसी दर्जनों घटनायें मेरे सामने-से गुज़री हैं, जिनमें उन लोगों ने माँ के पेट में-ही बच्चों को क़त्ल कर डाला, और यह व्यवस्था दी, कि अमुक स्त्री बच्चा पैदा करने में अशक्त है; यद्यपि बाद में, बिना उनकी सम्मति या सहायता के, उन्हीं माँओं ने अनेक बच्चे पैदा किये!—अनेक ऐसी स्त्रियाँ मेरी परिचित थीं, जिन्हें, उन लोगों ने, किसी व्यर्थ के ऑपरेशन में जान से मार डाला। कोई माई का लाल इन नृशंस हत्याओं के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाता! सभी यह कहते हैं—कि ये हत्यायें मनुष्य-जाति के लाभ और उपकार के लिये-ही हुईं, और अनिवार्य थीं। ये लोग जितने पाप-कर्म करते हैं, उनकी गिनती करना असम्भव है। पर उनके ये पाप-कर्म उस भयानक नीचता के मुक़ाबले में नगण्य हैं, जो वे

स्त्रियों के द्वारा औचित्य और नैतिकता की हत्या कराकर संसार में उपस्थित करते हैं !

"अगर आपके शरीर में कुछ गड़बड़ी है, और आप किसी डॉक्टर के पास जाते हैं, तो वह धोखेबाज़, उस गड़बड़ी का असली कारण जानते हुए भी यह नहीं कहेगा कि 'जाओ, भागो, दवाई की ज़रूरत नहीं है; ज़रा संयम से रहो ! ठीक हो जाओगे !'—वह तो आपको आठ आने का एक नुस्खा बनाकर दे देगा, और चुपचाप आकर उसका सेवन करेंगे, और फिर भी शिकायत रफ़ा न होगी, तो फिर डॉक्टर के पास—फिर आठ आने—फिर शिकायत ! देखा आपने !—कैसा गन्दा कौशल है !!

"ख़ैर, मतलब यह, कि पहले के बाद जितने बच्चे उसके हुए, उसने ख़ुद-ही सब का लालन-पालन किया। और मैं तो कहता हूँ—अगर वह न करती, तो जो घटना इतनी मुद्दत बाद आकर घटित हुई, वह बहुत-शीघ्र हो जाती—अर्थात् मेरे सामने उसकी हत्या करने के कारण शीघ्र उपस्थित हो जाते !"

"और अब आप के बच्चे हैं कहाँ ?"—मैंने पूछा।

"बच्चे ?"—उसने कुछ भयभीत-सा होकर कहा।

"क्षमा कीजिये, शायद उनकी याद आपको कष्ट देती है !"—मैंने कहा।

"जी नहीं, कोई बात नहीं। मेरे साली-साढ़ू उन बच्चों को अपने घर ले गये हैं। वे उनको मुझे न देंगे। मैंने अपनी सारी सम्पत्ति, बच्चों के पालन-पोषण के लिये, उन्हीं को देदी है। बच्चों को वे मुझे न देंगे। मुझे एक क़िस्म का उन्माद है। वे बच्चों को इसीलिये मुझे नहीं देंगे;—कि कहीं वे भी मेरे-जैसे न हो जायँ। हाय! हाय! मैं कहता हूँ—वे बच्चे अपने माता-पिता की तरह-ही होंगे, और दुःख भोगेंगे। हाय! मैं जानते हुए भी उस दुःख से उनकी रक्षा नहीं कर सकता!—मैंने तीन बार उन्हें देखा है, और जानता हूँ, कोशिश करने से वे ठीक आदमी बन सकते हैं। पर अफ़सोस! मेरे साली-साढ़ू मुझे पागल समझते हैं, ख़ुद अदालत ने मुझे पागल समझा—तो उन बेचारों का क्या कहना—वह क्यों उन बच्चों को मुझे देने लगे? अब मैं अपने घर जा रहा हूँ। एक छोटा-सा मेरा बँगला-बग़ीचा है, उसी में रहता हूँ।

"लोग मुझे पागल समझते हैं, पर जो-कुछ मैं जानता हूँ, या समझता हूँ—उसे जानने और समझने के लिये दुनियाँ को अर्सा लगेगा। सूरज और तारों में क्या-क्या है, और आकाश में क्या रहस्य है, यह सब-कुछ जानना मुश्किल नहीं है, पर हमारे अपने व्यभिचार और दुराचार का ज़रा-सा रहस्योद्घाटन······असम्भव—बिल्कुल असम्भव है!—भयानक है······!!

"ख़ैर, कम-से-कम आप शान्त होकर मेरी बात सुन तो रहे हैं, मैं इसके लिये आपका कृतज्ञ हूँ, और इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ!"

## १०

"अब बच्चों के विषय में भी सुनिये! कहने-वाले कहते हैं—कि बच्चे स्वर्गीय पदार्थ हैं! पर, यह सिर्फ़ कहने की बात है; दर-असल ग़लत है। कोई समय था, जब यह सच था; पर अब नहीं है। अब तो बच्चों को इल्लत समझा जाता है। अधिकांश मातायें बच्चों के अस्तित्व से ऐसा अनुभव करती हैं, और अनेकों के मुँह से अक्सर उनके मनोभाव प्रकट होजाते हैं। धनिक-समाज की विवाहित स्त्रियों से आप पूछें, तो मालूम होगा—कि वे बीमार पड़ जाने या जल्दी ख़त्म होजाने के भय से बच्चे पैदा करना नहीं चाहतीं! बच्चे पैदा होंगे, उन्हें उसकी देख-भाल में सारा वक़्त बर्बाद करना होगा, और अपनी तरफ़ ध्यान देने का अवसर कम मिलेगा। बच्चे के छोटे-छोटे हाथ-पैर, कोमल शरीर, और तोतली भाषा से जो आनन्द प्राप्त होता, उनकी नज़रों में, उस कष्ट के मुक़ाबले में वह कुछ भी नहीं है, जो उनके लिये उन्हें झेलना पड़ता है। इसीलिये उन्हें बच्चों की इच्छा नहीं। अपने इन विचारों का प्रकाशन स्त्रियाँ बड़े गर्व और बड़प्पन के साथ करेंगी, वे यह समझना भी नहीं चाहतीं, कि यह

उनका कोरा स्वार्थ है। वे एक प्यार की चीज़ के लिये अपना ज़रा-सा आराम नहीं छोड़ सकतीं, आराम के लिये उस प्यार की चीज़ का लोभ त्याग सकती हैं!

"बस, सिद्ध होगया—यह गौरव या बड़प्पन नहीं, स्वार्थ है! लेकिन मज़े की बात देखिये—कि इस जहालत के विरुद्ध आवाज़ उठाने की किसी को हिम्मत नहीं होती। बस, माता के उस कष्ट का भयानक चित्र नेत्रों के सम्मुख रखकर हरेक आदमी उसके विचारों को दाद देता है, और प्रशंसा करता है।—और फिर बने रहें, हमारे वे डॉक्टर-लोग, जो उन्हें इस क़िस्म का प्रोत्साहन देते हैं। पर असल प्रश्न तो मौज-मज़े का है। बच्चे होते हैं, माँ का अधिकांश समय उन्हीं की ले-दे में बीत जाता है, और पति को अपनी काम-वासना को तृप्त करने में बड़ी बाधा पड़ती है। अतएव बच्चों का अस्तित्व पति-पत्नी के बीच एक स्थायी खट-पट का कारण होजाता है। मेरे साथ भी ठीक यही हुआ। ज्यों-ज्यों बच्चों की संख्या बढ़ती गई, खट-पट भी अधिक होती गई। स्त्री तो मेरी अपने बच्चों को लेकर-ही व्यस्त रहती, और मैं देख-देखकर मन-ही-मन जलता—कुढ़ता!

"बस, तो बच्चों की मौजूदगी ने हमारा जीवन सुधारना तो दूर रहा—उल्टा विषमय बना दिया। बच्चों के कारण हमारे आपसी तनाज़े बढ़ने लगे। वे हमारी तकरार के विषय न होते थे, बल्कि हथियार बनते थे, और ज्यों-

ज्यों बड़े होते गये, अधिक बनते गये। हम उनके द्वारा झगड़ा मोल लिया करते थे । दो-एक बच्चों का पक्ष मैं अधिक लेता था, और दो-एक का वह। मैं अकसर लिसा का पक्ष-समर्थन करता था, वह सब से बड़े लड़के वास्या का। ये बच्चे बड़े हुए, तो लिसा की आदतें मेरी-सी हुईं, और वास्या की उसकी-सी । मैं मन-ही-मन वास्या से घृणा-सी करता था, और इस कारण सदा उससे मेरी तकरार रहती थी। ग़रीब बच्चे हमारी इस तकरार से बड़े परेशान होते थे, पर हमें तो उस समय इस बात का ज़रा भी होश न था!

"इस प्रकार दिन बीतने लगे । जीवन भार-रूप जान पड़ने लगा। चार साल बीते, तब-तक दैनिक क्लेश के कारण हमारा शरीर और मस्तिष्क कृश होगया। आख़िर हम इस नतीजे पर पहुँचे—कि हम एक-दूसरे को परस्पर नहीं समझ सकते। चौबीस-घण्टे हमारे मुँह फूले रहते थे, और किसी सम्बन्ध में एक-दूसरे से परामर्श करने में भी हमें अरुचि होने लगी। और मज़ा यह कि—जो परिचित-अपरिचित मित्र-लोग हमारे यहाँ आते, तो हम दोनों उनसे ख़ूब उत्साह-पूर्वक बातें करते। मगर आपस में उस समय भी बात न होती । मित्रों से बातें करने में कभी-कभी तो उसकी शेख़ी इतनी बढ़ जाती थी, और वह इतनी अतिशयोक्ति से काम लेती थी—कि मैं मन-ही-मन कह उठता—

'झूठ ! बिल्कुल झूठ !'—मगर ताज्जुब की बात है, कि जो हज़रत बैठे-बैठे उसकी बातें सुना करते थे, उन्हें उसकी अतिशयोक्ति या झूठ का सन्देह तक न होता था—और वे बैठे-बैठे हरेक बात पर हाँ-में-हाँ मिलाया करते थे ! जब हम दोनों अकेले रह जाते, तो सारे समय में लगभग निस्तब्ध रहते । 'क्या बजा है ?—सोने का वक्त हो गया । क्या खाना बना है ? आज कहाँ चलना है ?—अख़बार में कोई नई ख़बर है ?—ज़रा डॉक्टर को तो बुला दो; माशा के गले में दर्द है !'—बस, हमारी बात-चीत हमेशा इन्हीं गिनती के वाक्यों में समाप्त हो जाती थी । डर था—कोई नई बात शुरू होने पर लड़ाई न फूट पड़े ! ज़रा-ज़रा-सी बातों पर लड़ाई-झगड़ा पैदा हो जाता था । मैं सच कह दूँ—कि उसके प्रति मेरे मन में आन्तरिक घृणा घर कर गई थी । कभी देखता—वह चाय उँड़ेलती है, टाँग पसारती है, चम्मच मुँह में ले जाती है, ओंठ भींचकर कॉफ़ी या चाय पीती है,—और आप सुनकर आश्चर्य्य करेंगे, कि मेरी नज़रों में उसके ये काम बड़े घृणित थे, और इन्हीं के कारण मैं उसपर आन्तरिक घृणा और विरक्ति का भाव रखता था ।—और उस समय मैंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया, कि जब-जब मेरे मन में ऐसी घृणा या विरक्ति का भाव उठता, तभी-तब उस पाशविक इच्छा का—जिसे प्रेम का नाम दिया जाता है—उदय क्यों होता था ! उस समय मैंने यह नहीं समझा—कि यह घृणा और यह इच्छा

—दोनों एक-ही वस्तु के दो रूप हैं, और आन्तरिक अमानुषिक भावनाओं के फल-स्वरूप-ही इनका उदय होता है! ऐसा जीवन बिताना अत्यन्त भयानक है, पर उस समय हम दोनों में-से किसी ने न तो समझा, और न अनुभव किया। सच पूछिये—तो मनुष्य की सब से अधिक दयनीय परिस्थिति यह है—कि वह अपने जीवन की भयानक यथार्थता को न समझे। हम इसी दयनीय परिस्थिति में थे। वह तो घर के काम-धन्धे में,और बच्चों को नहलाने-धुलाने में लगकर इस बात को भूलना चाहती थी, और मैं अपनी शराब, ताश और ऑफ़िस-ड्यूटी में रहकर। हम दोनों-ही अपने-अपने कामों में व्यस्त रहने लगे, और हमने अनुभव किया—कि हमारी व्यस्तता जितनी अधिक बढ़ने लगी, हम एक-दूसरे से उतने-ही दूर होने लगे।

"ख़ैर, इसी तरह समय बीतने लगा। हम जिस भयानक परिस्थिति में-से गुज़र रहे थे—उसका ठीक-ठीक ज्ञान हमें न था।—और अगर, जो घटना घटी, वह न घटती, तो सारी उम्र हमारा जीवन उसी तरह बीतता जाता, और मैं जब मरने लगता तो समझता—कि मेरा जीवन ख़ूब सुखपूर्वक बीता! हम दोनों के बीच में जो एक भयानक कातरता और असत्यता की नदी हिलोरें ले रही थी, मरते दम-तक मैं अभागा, शायद उसे समझने की चेष्टा न करता!!

"हम उन दो क़ैदियों की तरह थे, जो ज़ञ्जीरों से बँधे-

बँधे भी एक-दूसरे से घृणा करते हैं। उस समय मैं नहीं समझा—कि निन्नानवे फ़ी सदी विवाहित मनुष्य आजकल ऐसे-ही नर्क में पड़े हुए हैं, और बराबर पड़े रहेंगे। उस समय यह बात और लोगों के सम्बन्ध में तो क्या—मैं ख़ुद अपने सम्बन्ध में भी नहीं समझता था!"

सहसा वह रुक गया।—और उसके कण्ठ से दो-एक दफ़ा वही विचित्र आवाज़ निकली। अब इन आवाज़ों में एक प्रकार की कातरता प्रकट होती थी। गाड़ी धीमी पड़ गई थी। कोई स्टेशन आ गया था।

"क्या बजा है?" उसने पूछा।

मैंने घड़ी देखी। दो बजे थे।

"थक तो नहीं गये?"—उसने पूछा।

"न, मैं तो नहीं थका; शायद आप……?"

"न, थका नहीं; मेरा गला रुँध-सा गया है। क्षमा कीजियेगा, मैं ज़रा घूम-फिर लूँ, और थोड़ा पानी पी लूँ!"

वह लड़खड़ाता हुआ उठा, और गाड़ी से उतरकर प्लैटफ़ॉर्म पर चला गया। मैं बैठा-बैठा उसकी अद्‌भुत बातों पर विचार करने लगा। मैं इस विचार में इतना निमग्न हुआ—कि उसके पुनः भीतर आने का भी मुझे ज्ञान न हुआ।

---

## ११

"अब मैं असली विषय पर आता हूँ," उसने बैठकर कहना शुरू किया—"हम लोग शहर में रहने लगे थे। शहर में अगर आदमी सौ बरस रहता रहे, तोभी उसे यह पता नहीं चलता, कि वह ज़िन्दा-दर-गोर हो चुका है, उसकी आत्मिक शक्तियाँ नष्ट हो चुकी हैं, और उसका शरीर किसी भी काम का नहीं रहा है। शहर में वह इतना व्यस्त रहता है, कि उसे अपने व्यक्तित्व की तरफ़ ध्यान देने का ज़रा भी अवकाश नहीं मिलता। व्यापार, समाज, कला, बच्चों का स्वास्थ्य और उनकी शिक्षा—इन्हीं सब में वह पागल बना रहता है। बस तो, शहर में रहते हुए हमें अपनी भयानक अवस्था का यथार्थ अनुभव नहीं हुआ।

"इस तरह कुछ दिन गुज़रे। सहसा ऐसी एक घटना घटित हुई, जो बिल्कुल साधारण और ज़रा-सी कही जा सकती है, पर जिसके कारण पीछे वह विभ्राट् हुआ, जो मैं आप से कहने जा रहा हूँ।

"उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। डॉक्टरों ने सन्तान-निग्रह की सलाह दी, और यह बता दिया—कि किस प्रकार निग्रह किया जा सकता है। मेरे निकट यह बात अत्यन्त घृणापूर्ण थी। मैंने इसका प्रतिवाद किया।—पर वह न मानी, और अपने मन का-ही किया। मुझे झुकना पड़ा। बस, इस तरह—हमारे दुराचार-पूर्ण जीवन में,

सन्तान, जो एक बाधा बनी हुई थी, अब वह भी दूर हो गई, और हमारा जीवन अधिक उच्छृङ्खल और घोर असंयमी हो उठा।

"किसान हो या मज़दूर—अपने लिये सन्तान की उत्पत्ति को आवश्यक समझता है—पेट भरने के लाले पड़े हुए हों, तोभी सन्तान की लालसा रखता है। अतएव स्त्री पर उसका स्वामित्व किसी हद-तक उपयुक्त कहा जा सकता है। हमारे लिये, जिनको एक-दो बच्चे पैदा हो जाते हैं, अधिक बच्चे अनावश्यक हैं, कष्टकर हैं, दौलत के खण्ड-खण्ड करनेवाले हैं, भार हैं! अतएव हमारा स्वामित्व, अथवा हमारी व्यभिचार-प्रवृत्ति को किसी दृष्टि से भी सङ्गत, आवश्यक और अधिकार-पूर्ण नहीं ठहराया जा सकता। बेशक, नहीं ठहराया जा सकता, पर हमारा तो इतना पतन हो चुका है, कि इस बात में, किसी अधिकार अथवा औचित्य पर विचार तक नहीं करते। अधिकांश में आधुनिक शिक्षित-समाज, इस विषय में घोर अविचार-शील बनकर, व्यभिचार-कर्म में प्रवृत्त होता है।

"सच पूछिये, तो हमारे शिक्षित भाइयों का तो अन्तःकरण-ही नष्ट हो चुका है, और वे विवेक-अविवेक का विचार करने की शक्ति-ही नहीं रखते। हाँ, अगर इस सम्बन्ध में राज्य-द्वारा क़ानून बना दिये जायँ, और उन पर कठोरतापूर्वक अमल कराया जाय—तब कहीं, लोग विवेक-अविवेक की कल्पना कर सकते हैं।

"अस्तु—दो बरस बीत गये। उन बदमाश डॉक्टरों के बताये हुए उपाय-द्वारा मेरी स्त्री के शरीर और सौन्दर्य्य का विकास होने लगा। उसने इस विकास का अनुभव किया, और अपने बनाव-सिङ्गार और चेहरे-मोहरे पर अब वह अधिक ध्यान देने लगी। क्रमशः उसके सौन्दर्य्य पर उस तरह का निखार और आकर्षण आने लगा, कि अच्छे-अच्छे संयमी जिस पर मर मिटें! लोग उसे देख-देखकर चञ्चल होने लगे। पुरुषों में-से कभी गुज़रती, तो सैकड़ों लोलुप आँखें उसकी तरफ़ उठने लगीं। वह ठीक उस छके-खाये घोड़े की तरह थी, जिसके मुँह से लगाम उतार ली गई हो। सच पूछिये—तो हमारे समाज में निन्नानवे-फ़ी-सदी यह लगाम मौजूद नहीं है।.........तो मैंने इस स्थिति का अनुभव किया, और भय-से एक-बार चिहुँक उठा!"

सहसा वह उठा, और खिड़की के पास पहुँचा।

"क्षमा करें," उसने धीरे-से कहा, और क़रीब तीन मिनट तक वह स्थिर नेत्रों से खिड़की की तरफ़ ताकता रहा। तब उसने एक गहरी साँस ली, और वापस अपनी पहली जगह पर आ बैठा। उसका चेहरा एक-बारगी बदल गया था, आँखों में कातरता की झलक थी, और उसके ओठ कुछ अजीब तरह से अलग होगये,—मानो मुस्करा रहा है।

"मैं थक-सा गया हूँ, पर सुनाऊँगा। अभी काफ़ी वक़्त है। सवेरा अभी नहीं हुआ है। बेशक! बेशक!..."

उसने एक सिगरेट सुलगाया, और कश लगाकर कहना शुरू किया—"बच्चे पैदा होने बन्द होगये, तो वह हृष्ट-पुष्ट बन गई—और बच्चों के सम्बन्ध में उसकी वह चिन्ता और व्यग्रता भी नष्ट होगई। व्यग्रता क्यों नष्ट होगई ? इसलिये कि जैसे-ही उसने अपने सौन्दर्य्य के विकास और निखार का अनुभव किया, वह मानों सोते-से जाग उठी। उसने देखा—एक ऐसा स्वर्गीय और आनन्दमय संसार भी है, जिसे वह अब तक भूले हुए थी। मगर वह यह नहीं जानती-समझती थी, कि इस स्वर्गीय संसार में किस तरह रहना चाहिए। "अभी समय है ! मौक़ा नहीं चूकना चाहिये !—समय भागा जारहा है, और वापस नहीं आयगा।" मैं समझता हूँ—ये विचार उसके मन में पैदा हुए, अथवा उसने ऐसा अनुभव किया, इसके अतिरिक्त और कोई बात उसके मन में आ-ही नहीं सकती थी—मुझे इसका विश्वास है। वह पली-ही ऐसी हवा में थी, कि केवल एक चीज़ को ध्यान देने-योग्य और सोचने-विचारने-योग्य समझती। वह चीज़ थी—प्रेम, अथवा आसक्ति ! उसने विवाह किया, और उस आसक्ति के कुछ अंश का अनुभव भी किया—पर उतना नहीं, जितने की आशा थी, या जितने का प्रलोभन था। उस आंशिक अनुभव में भी तरह-तरह की निराशायें, आपत्तियें और तकरारें साथ-साथ थीं, और फिर अन्त में, यह आफ़त—बच्चों की ! इन तकलीफ़ों ने उसे तङ्ग कर दिया

था। पर ख़ैर, बने रहें—बेचारे डॉक्टर-लोग ! यह तर्कीब तो वह जान गई थी कि कैसे बच्चों से पीछा छुड़ाया जा-सकता है। यह तर्कीब जानकर वह बड़ी प्रसन्न हुई, उसका उपयोग किया, और उस वस्तु का अनुभव करने के लिये उसके मन और शरीर में नवजीवन का सञ्चार हो आया—जिसे प्रेम के नाम से पुकारा जाता है। मगर उस पति के साथ प्रेम······अब वह नहीं चाहती थी, जिसके साथ तरह-तरह का गुस्सा-ताना लड़ाई-झगड़ा लगा हुआ हो। अब तो वह किसी नये, ताज़े पंछी की खोज में थी—या कहूँ—किसी अक्षत, अनमोल, ख़ालिस, औपन्यासिक प्रेम की इच्छुक थी।—कम-से-कम मुझे इसका दृढ़ विश्वास है। उसने इधर-उधर आँखें पसारीं—मानों किसी को खोजती है। मैंने इस पर लक्ष्य दिया, और मैं विचलित हो उठा। कई बार ऐसा मौक़ा आया, जब मेरे सामने-सामने उसने मित्रों में अर्द्ध-स्मित भाव से यह प्रकट किया—कि मा का जीवन बड़ा गन्दा है! और स्त्रियों को अपने जीवन और सौन्दर्य्य का लुत्फ़ छोड़कर बच्चों की देख-भाल में-ही व्यस्त नहीं रहना चाहिये। उसने अपनी तरफ़ ज़्यादा और बच्चों की तरफ़ कम ध्यान देना शुरू कर दिया, और हर वक़् वह अब अपने-ही बनाव-सिङ्गार में व्यस्त रहने लगी। अब दोबारा वह कुमारियों की तरह प्यानो बजाने लगी, जिसे कुछ वर्षों से उसने बिल्कुल त्याग दिया था। और मैं आप

को बता दूँ—कि सारा अनर्थ इसी पियानो से शुरू हुआ।"

उसने फिर कातर नेत्रों से खिड़की की तरफ़ ताका, पर कोशिश करके उधर से नज़र हटा ली, और कहना शुरू किया—

"जी हाँ; इसी पियानो के कारण उस······का आना-जाना शुरू हुआ !"

—वह बहुत विचलित जान पड़ता था, और एक-दो बार उसके गले से वही विचित्र आवाज़ निकल पड़ी।

मैंने अनुभव किया, कि उस आदमी का नाम लेना, उसे याद करना, उसकी बात करना भी उसे सहन नहीं होता था। परन्तु उसने बड़ा-भारी ज़ोर लगाया, और मानों उस बाधा को ज़बर्दस्ती रास्ते से हटाकर कहना शुरू किया—

"मेरे विचार और अनुमान के अनुसार वह बहुत-ही साधारण और निकम्मा आदमी था। मैंने यह अनुभव इस लिये नहीं किया—कि मेरे जीवन में उसने एक भयानक घटना का सूत्रपात किया—नहीं, वह सचमुच-ही निकम्मा था। गाना जानता था। कोई पेशेवर गायक नहीं था, बल्कि कहूँ, आधा-पेशेवर और आधा सामाजिक आदमी था।

"उसका ज़मींदार बाप मेरे बाप का पड़ौसी था। वह बेचारा तो समय के फेर में पड़कर बर्बाद होगया, पर उसके तीनों बड़े लड़के सौभाग्य-वश अच्छी जगह चिपक गये। सिर्फ़ वही—सब से-छोटा—पेरिस में अपनी गोद की माँ

के पास पहुँच गया। वहाँ वह गायन-शाला में भर्त्ती होगया, क्योंकि शुरू से-ही गायन-कला के प्रति उसके मन में कुछ स्वाभाविक अनुराग पाया जाता था। वहाँ से वायोलिन बजाना सीखकर वह निकला। वह ऐसा आदमी था……"
कहता-कहता पज़्नीशव सहसा रुक गया। शायद उसके सम्बन्ध में कोई बुरी बात कहना चाहता था। अस्तु—रुक-कर शीघ्रता-पूर्वक बोला,—"ख़ैर, मुझे ठीक नहीं मालूम—कि उसका जीवन किस रङ्ग में बीता। मैं तो सिर्फ़ यही कहना चाहता हूँ—कि वह उसी साल रूस की तरफ़ आ-निकला, और मेरे घर पर उसके दर्शन हुए।

"चेहरा उसका फैला-सा था, आँखें नमदार, हँसते हुए से लाल-लाल ओठ, मोम लगी हुई, छोटी-छोटी मोंछें, और बढ़िया फ़ैशन में काढ़े हुए बाल थे। सब मिलाकर वह औरतों की भाषा में 'ख़ासा' था। शरीर उसका गठा हुआ था, और कपड़े-लत्ते, पेरिस के आकर्षक फ़ैशन के थे!

"यही था वह—जिसने सारा अनर्थ पैदा किया। मेरा मुक़द्दमा जब पेश हुआ, तो यह कहा गया था, कि जो-कुछ हुआ—ईर्ष्या और प्रतिहिंसा के कारण हुआ। फ़ैसले में कहा गया था—कि मैंने एक अविवेकी पति की तरह उत्ते-जित होकर अपनी पत्नी की हत्या कर डाली। इसी बिना पर मैं रिहा कर दिया गया। मैंने अदालत में बात को साफ़

करने की कोशिश भी की, तो समझा गया—कि मैं अपनी पत्नी के चरित्र की रक्षा करना चाहता हूँ। ओह! कैसी बिडम्बना थी!

"मेरी पत्नी के साथ उस गायक के क्या सम्बन्ध थे—असल में यह कहना मेरा अभिप्राय नहीं है। मैं तो सिर्फ़ यही कहता हूँ—कि जो-कुछ भी हुआ, वह मेरी बे-रोक व्यभिचार-प्रवृत्ति के कारण-ही हुआ, और उसी के कारण वह पहले दिन की तकरार हुई थी, जिसके फल-स्वरूप उस बीभत्स अन्त का बीजारोपण हुआ। मैं यदि उस गायक को दोष दूँ—तो मेरी भूल और अनुदारता है। वह न होता, तो उसका भाई कोई और होता। होता कोई-न-कोई ज़रूर!—और वह मौक़ा किसी-न-किसी कारण से आता ज़रूर! मैं तो कहता हूँ—कि आजकल के सभी पुरुष, या तो जीवन-भर दुःखी रहते हैं, और या अपने आपको, या अपनी पत्नी को मार डालने की इच्छा करते हैं, और कभी-कभी मार भी डालते हैं। अगर कोई पुरुष इसके प्रतिकूल दशा में है, तो वह बड़ा भाग्य-शाली है, और अपवाद है। जब वह अनर्थ उपस्थित हुआ, तो उससे पहले अनेक बार मैंने आत्म-हत्या करने का विचार किया था, और अनेक बार उसने।"

---

# १२

"उस दुर्घटना के कुछ दिन पहले-तक यह अवस्था थी। हम, जैसे एक अस्थायी समझौते पर पहुँच गये थे, और अकारण-ही उसे तोड़ना नहीं चाहते थे। या जैसे, आँधी चलना चाहती थी, और उसके पहले की शान्ति थी। पर सहसा एक दिन साधारण-सी बात पर तकरार शुरू होगई। एक कुत्ते का ज़िक्र चल पड़ा। मैंने कहा—'उसे अमुक प्रदर्शिनी में एक स्वर्ण-पदक मिला था।' वह झट बोली—'नहीं पदक नहीं मिला।' बस, शुरू होगई—बक-झक, और ले-दे। मैं बोला—'कैसे नहीं मिला? मेरा मतलब…' वह बोली—'नहीं, तुम्हारा मतलब……' मैं बोला—'नहीं, मैं सच कहता…' वह बोली—'तो मैं-ही झूठी रही!…' मैंने चिल्लाकर कहा—'अच्छा, चुप रहो!'

"बस, वह तेज़ी के साथ कमरे से बाहर निकल जाती है। मैं उसे रोकने की चेष्टा करता हूँ। वह चीख़ उठती है—मानों मैंने उस पर शारीरिक आक्रमण किया हो—'बच्चो, तुम्हारा बाप मुझे मारे डालता है।'—मैं चीख़कर कहता हूँ—'चुप झूठी!'—इतने में बच्चे दौड़कर आते हैं; मैं कहता हूँ—'क्या अनर्थ करती हो?' वह कहती है—'तुम्हारी नज़रों में दूसरे-का तो सभी-कुछ अनर्थ; आप चाहें किसी को जान से मार डालो!' आख़िर मैं फिर चीख़कर दाँत पीसते हुए कहता हूँ—'ईश्वर करे, तुम्हें कुत्ते की

मौत नसीब हो !' मुझे याद है—कि ये अन्तिम शब्द मुँह से निकालकर मैं कितना भयभीत हुआ था। कह नहीं सकता —किस तरह ऐसे भयानक शब्द मेरे मुँह से निकल गये! बस, मैं फ़ौरन्-ही दौड़कर पढ़ने के कमरे में चला गया, और सिगरेट पीना शुरू कर दिया। उसके हॉल में जाने की आवाज़ मैंने सुनी। पूछा—कहाँ जाती हो?—तो उसने जवाब नहीं दिया। 'ऐसी-तैसी में जाय।'—कहकर मैं फिर पढ़ने के कमरे में जा पड़ता हूँ, और सिगरेट पीने लगता हूँ। कैसे यह क्लेश शान्त हो, इसकी सैकड़ों स्कीमें मेरे दिमाग़ में आती हैं। क्या करूँ—कहीं भाग जाऊँ, छिप जाऊँ, अमरीका चला जाऊँ! मैं पड़ा-पड़ा सोचता हूँ— कैसे इस राक्षसी से छुटकारा मिले, और कैसे मैं किसी दूसरी सुन्दरी से जीवन के लुत्फ़ उठाऊँ!

"मैं शाम-तक पड़ा-पड़ा सोचता रहा। चाय का वक़्त गुज़र गया, ब्यालू का आ गया। पर वह न आई। न-जाने कहाँ चल दी! अब-तक तो आजाना चाहिये था। क्रोध और भय का मिश्रित भाव मेरे मन में उठने लगा। क्रोध इसलिये कि—कम्बख़्त ने बच्चों-तक का ख़याल न किया! भय इसलिये कि कुछ बुरा-भला न कर बैठे! क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कहाँ से ढूँढ़कर लाऊँ? उसकी बहन के घर? पर इस तरह उसके पीछे-पीछे जाना तो बड़ा वाहियात होगा।—और फिर, फ़र्ज़ करो, वह अपनी बहन के

घर भी न हुई तो ?—और कुछ बुरा-भला करना चाहती है, या कर चुकी है, तो ? दस बजे—ग्यारह बज गये ! सोने का वक़्त आगया। मैं उसकी बाट में कब-तक पड़ा रहूँ ? इच्छा होती थी, कुछ लिखूँ-पढ़ूँ। पर किसी काम में मन न लगता था।—बस, इस तरह क्रोध और क्षोभ से जलता-भुनता मैं अपने पढ़ने के कमरे में बैठा, उसकी प्रतीक्षा करता रहा। सुबह के तीन बजे—चार बज गये, और उसका पता नहीं। दिन-निकले के क़रीब मेरी आँख लग गई। जागा—तब-तक भी उसका पता न था !

"दिन के क़रीब ग्यारह बजे उसकी बहन पधारतीं हैं, मानों उसकी दूत अथवा हिमायतिन बनकर ! आकर कहती हैं—'वह तो बड़ी परेशान हो रही है ! क्या बात हुई ?'—मैं कहता हूँ—'कुछ भी नहीं हुआ !'

"'आप सोचिये तो, इस तरह कैसे चल सकता है ?' उसकी बहन कहने लगी।

"'सब उसी की करतूत है; मेरा कोई दोष नहीं,' मैं बोला —'और नहीं चल सकता, तो फिर—तलाक़ !'

"मेरी साली तो इस बात को मान नहीं सकती थी ! वह बिना-कुछ कहे चली गई !

"तीन बजे के क़रीब मेरी स्त्री लौट आई। पर आकर उसने मुझसे बात न की। मैंने, यह समझकर, कि उसने हार मान ली है, कहना आरम्भ किया—'तुम्हारी तेज़

बातों से मुझे क्रोध आगया था।' वह झट तुनककर बोली—'मैं कैफ़ियत सुनने नहीं, बच्चों को लेजाने के लिये आई हूँ। हम दोनों इकट्ठे अब नहीं रह सकते।' मैंने कहना शुरू किया, कि मेरा क़सूर नहीं है। पर उसने सख्ती-से कहा—'ज्यादा कहने-सुनने की ज़रूरत नहीं है, नहीं मानोगे, तो पछताओगे।' मैं बोला—'मैं ऐसी गीदड़-भबकियों में आने-वाला नहीं हूँ!' सुनते-ही वह दौड़कर अपने कमरे में घुस गई, और दर्वाज़ा भीतर से बन्द कर लिया। मैंने खोलने की कोशिश की, तो न खुला। आध घण्टा बीता, और घबराकर मैंने ज़ोर-से किवाड़ में धक्का दिया। किवाड़ खुल गये। वह सब कपड़े-पहने पलँग पर पड़ी थी। पास की मेज़ पर अफ़ीम की एक शीशी खुली पड़ी थी। आवश्यक परिचर्या की गई। बड़ी मुश्किल-से होश में आई। आख़िर मैं-ही दबा, और समझाया-बुझाया। पहले तो, ख़ूब रोई, फिर कुछ शान्त हुई।

"पर यह शान्ति स्थायी न रही। अब तो वैसी-वैसी लड़ाइयाँ नित्य की वस्तु बन गईं। महीने में एक बार, हफ़्ते में एक बार, और कभी-कभी रोज़-ही ऐसी नौबत आने लगी। यहाँ-तक कि एकबार तो मैंने तङ्ग आकर विदेश-यात्रा के लिये पास-पोर्ट तक मँगा लिया।—दो-तीन दिन बराबर तकरार होती रही थी, पर दुर्भाग्यवश फिर साधारण-सी शान्ति होगई, और मैं रुक गया।

"जब वह अनर्थ की जड़, वह निकम्मा आदमी, मेरा साक्षात् दुर्भाग्य, प्रकट हुआ—तो हम दोनों के ऐसे सम्बन्ध थे। नाम उसका त्रख़ाचवस्की था। एक दिन सुबह वह मॉस्को में मेरे घर पर आया। कोई ज़माना था—जब हम लोगों में घनिष्ठता थी। उसने अब भी वही बे-तकुल्लुफ़ी का लहजा अख्तियार किया। पर मैंने वैसी बे-तकल्लुफ़ी से काम न लिया, और गम्भीरतापूर्वक बातें-चीत करने लगा। सच कहूँ—देखते-ही कुछ ऐसा आभास हुआ—आदमी चरित्र-हीन है। और मेरी स्त्री से मिलने के पूर्व-ही मैं उससे कुढ़-सा गया। पर क्या बताऊँ—होनी जो थी—किसी अद्भुत शक्ति के वशीभूत होकर उसे टालना तो दूर रहा, मैंने उसका स्वागत किया, और भविष्य में अपने घर आने का निमन्त्रण दिया। नहीं तो सीधी-सी बात थी! ज़रा रुखाई-से पेश आता, और बिना पत्नी से परिचय कराये-ही उसे बिदा कर देता! बात ख़त्म होती! पर आश्चर्य्य की बात है! मैं गाने-बजाने के सम्बन्ध में उससे वार्त्तालाप करने लगा, और पूछा—'क्या अब वह काम छोड़ दिया है?' उसने जवाब दिया—'आजकल तो ख़ूब गाता-बजाता हूँ।' उसने मुझे यह भी याद दिलाई—'कभी तुम भी तो गाया-बजाया करते थे!' मैंने कहा—'मैंने तो छोड़ दिया है, पर मेरी स्त्री वायोलिन बजाने की शौक़ीन है!'

"मैंने अपनी स्त्री से उसका परिचय करा दिया।

वार्त्तालाप तुरत-ही गाने-बजाने के सम्बन्ध में होने लगा। उसने मेरी स्त्री के साथ बाजा बजाने के लिये अपने आप को पेश किया। मेरी स्त्री उन दिनों अत्यन्त सुन्दरी, आकर्षक और माधुर्य्य-पूर्ण हो उठी थी। देखते-ही वह उस पर रीझ गया, और उसे ख़ुश करने के प्रयत्न में लगा। इधर मेरी स्त्री भी बड़ी प्रसन्न हुई! उसे इस बात की ख़ुशी थी, कि वायोलिन बजाने के लिये एक मुँह-माँगा आदमी मिल गया। क्योंकि अब तक, अपना शौक़ पूरा करने के लिये उसे दाम ख़र्चकर थियेटर से आदमी बुलाना पड़ता था। उसका आन्तरिक हर्ष उसके चेहरे पर प्रकट होगया। सहसा उसकी नज़र मेरे मुँह पर पड़ी, और उसने अपना भाव बदल लिया। और कहूँ, दोतर्फ़ा छल-कपट आरम्भ हुआ! मैं, मानों वार्त्तालाप से बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ, यह प्रकट करने के लिये मुस्कुराने लगा। वह पाजी, चरित्र-हीन पुरुषों की तरह मेरी स्त्री के मुँह की तरफ़ एक-टक ताकता रहा—मानों उसकी बातों में गहरा अनुराग ले रहा है। उधर मेरी स्त्री की आँखों में अद्भुत भाव-परिवर्त्तन हुआ। मेरी नक़ली मुस्कुराहट मेरे मनोभाव छिपाने में असमर्थ रही। और वह मानों मेरी हार्दिक ईर्ष्या की कल्पना कर, एक-बारगी चमत्कृत हो उठी। मुझे ऐसा अनुभव हुआ—कि हठात् आँखों के द्वारा उन दोनों में एक बिजली की लहर दौड़ गई। जैसे पलक-मारते दोनों एक-दूसरे को पहचान गये। सहसा दोनों

शर्मा गये, दोनों के मुँह पर लाली की तेज़ लहर दौड़ गई! तब दोनों एक-साथ मुस्कुरा पड़े। और इसके बाद गाने की, बजाने की, पेरिस की, मॉस्को की, अनेक बातें हुई। तब वह मुस्कराता हुआ, विदा होने के लिये उठा। मुझे वह क्षण ख़ूब याद है। यदि उस क्षण, मैं उसे निमन्त्रण न देता, तो शायद बात वहीं ख़त्म होजाती। मैंने उन दोनों की तरफ़ बारी-बारी से देखा—और मन-ही-मन में कहा—'वाह! क्या मैं इससे डरता हूँ? क्या मैं इसको अपनी ईर्ष्या का पात्र समझता हूँ?' मैंने उसे किसी दिन उसके वायोलिन के साथ आने का निमन्त्रण देदिया। मेरी स्त्री तो मेरी बात सुनकर जैसे वज्राहत होगई। उसने भयभीत, और सन्दिग्ध नेत्रों से मेरी ओर ताका, और कहा—'जी नहीं, मुझे तो अच्छा बजाना भी नहीं आता! मैं आपके साथ कैसे बजा सकूँगी?" उसके इस बहाने से मेरी क्रोधाग्नि और भड़की, और मैंने ज़ोर देकर उसे आने को कहा। बल्कि यहाँ तक ज़ोर दिया—कि उसे उसी दिन शाम को, अपने वायोलिन के साथ, आना चाहिये। उसे भला क्या उज़र था? मञ्ज़ूर करके चला गया।

"शाम को वह आया, अपने वायोलिन के साथ। दोनों ने साथ-साथ बजाया। देर-तक बाजा बजता रहा। कई प्रसिद्ध गतें बजाई। मैं उनके इस अनुष्ठान में ख़ूब दौड़-दौड़कर मदद कर रहा था। बाजे के स्टैण्ड खड़े करने, पेज

बदलने, सहानुभूति प्रकट करने में मैंने ज़रा भी कोताही न होने दी। अच्छा बजाने-वाला था। ख़ूब रङ्ग जमा। हाय! उसका चरित्र इतना गन्दा और बजाना इतना बढ़िया!

"मेरी स्त्री की अपेक्षा वह बहुत-सुन्दर बजाता था। उसने बजाने में उसकी मदद की, और बड़ी नर्मी-से उसकी भूलें बतलाईं। व्यवहार उसका बड़ा-ही सुन्दर था। मेरी स्त्री तो जैसे बाजे की धुन में सब-कुछ भूल गई। और मैं? यद्यपि ज़ाहिरा ख़ूब अनुराग और हर्ष प्रकट कर रहा था, पर भीतर-ही-भीतर तो मेरा हृदय ईर्ष्या से दग्ध हुआ जारहा था।

"जब वे दोनों मिले थे, तो दोनों ने एक-दूसरे की आँखों की पशुता और वासना ताड़ ली थी। कहूँ—कि उसकी आँखों ने पूछा—'क्या मुझे इजाज़त है?'—और उसकी आँखों ने झट उत्तर दिया—'अवश्य! अवश्य!' मैंने अनुभव किया— कि शायद पहले उसने मेरी स्त्री के—मॉस्को की एक रमणी के—इतना सुन्दर होने की कल्पना भी न की थी। और उसे यह देखकर भी बड़ा आनन्द हुआ—कि वह 'राज़ी' थी! बस, उनके रास्ते में एक-ही मुश्किल थी,—और वह मैं था। अगर मेरा चरित्र निर्मल होता, तो मैं शायद इस प्रपञ्च को न समझ पाता। पर, मैं तो शुरू से-ही स्त्रियों के स्वभाव से परिचित था, मैं तो ख़ुद चरित्र की अधिक-से-अधिक गिरावट का अनुभव कर चुका था, अत-

एव उन दोनों के मनोभाव खुले-पृष्ठों की तरह मेरे सम्मुख आगये। मेरी क्रोधाग्नि यह देख-देखकर और भी भड़कती थी, कि मेरी स्त्री मुझे अपने मार्ग का कण्टक समझती थी, क्योंकि मैं अपनी गर्हित काम-वासना की तृप्ति के लिये उसे अक्सर तङ्ग किया करता था, और अक्सर उनके स्वतन्त्र प्रेम-सम्भाषण में बाधक भी बनता था। इधर वह उस पर हज़ार जान से निछावर होचुका था, उसके गुण, उसका सौन्दर्य्य, उसकी प्रतिभा और उसका शरीर देख-देखकर वह लोट-पोट हुआ जा रहा था। बस, यह बात मेरे कलेजे पर दहकते अँगारे की तरह जाकर टकराती थी। पर, न-जाने-क्यों, मन में ऐसी भयानक भावना रखकर भी उसके प्रति मेरा भाव सदा नम्र-ही रहता था। मैं नहीं जानता, मैं किस लिये, किस संघर्ष में पड़कर अपनी आत्मा को ऐसा धोखा देरहा था। क्यों मैं उसकी हत्या न करके, उससे घुट-घुटकर बातें करता था, भोजन पर बढ़िया-से-बढ़िया शराब पिलाता था, उसके हरेक गाने, उसके हरेक काम, उसकी हरेक बात को दिल-खोलकर तारीफ़ करता था!"

पज़नीशव कुछ विचलित हुआ, पर तुरत-ही सम्हलकर फिर कहने लगा—

"मुझे बड़ा अचरज होता है—कि उस शख्स ने मुझपर कैसा अद्भुत जादू डाला, कि मैं उससे सख्त नफ़रत करते

हुए रुखाई का व्यवहार न कर सकता था। एक दिन की बात है। नुमायश देखकर लौटा था। जैसे-ही ड्राइँग-रूम में घुसा, मानों किसी ने छाती में मुक्का मार दिया। खूँटी पर उसका ओवर-कोट टँगा हुआ था। ज़रूर वह यहीं है। मैं नाँचने की कमरे की तरफ़ चला। बीच के एक कमरे में मेरी लड़की लिसा बैठी एक पुस्तक पढ़ रही थी, और धाय मेरे छोटे लड़के को मेज़ पर बैठाकर खिला रही थी। आगे बढ़ा। नाँचने के कमरे का द्वार बन्द था। खड़ा होकर सुनने लगा। धीमी-धीमी आवाज़ें आरही थीं। वह किसी बात का अनुरोध कर रहा था। वह 'नहीं! नहीं!' कह रही थी!—ओह! मेरे तो रोंगटे खड़े होगये! यह क्या……?

"सहसा पियानो की आवाज़ आने लगी। मानों उसकी आवाज़ में अपनी…अपने चुम्बनों की आवाज़ छुपा देना चाहते हैं!—मेरा हृदय किसी बीभत्स और भाव से भर उठा। एक बार तो दिल की धड़कन जैसे बन्द होगई। फिर जैसे कोई भीतर-ही-भीतर हथौड़े की चोटें मारने लगा। 'बच्चों की मौजूदगी में!—धाय के देखते-देखते!—ऐसा पाप!—ऐसा पाप!……'

"धाय मानों सब-कुछ समझती थी। उसने भयभीत नेत्रों से मेरी ओर ताका। उसके नेत्रों में मलामत का भाव भी मुझे साफ़ दिखाई दिया। मैं खड़ा न रह सका, और

ज़ोर-से दर्वाज़ा खोलकर भीतर पहुँच गया !! वह पियानो के सामने बैठा था; उँगलियाँ उसकी सुरों पर थीं, और धीरे-धीरे कोई राग निकाल रहा था। वह पियानो की बग़ल में झुकी हुई खड़ी थी। दोनों के सिर क़रीब-क़रीब मिले हुए थे।

"पहले उसी ने मुझे देखा, और डरी तो नहीं सिर्फ़ ज़रा शर्मा-सी गई, और सो भी एक दम नहीं !—ओह ! उसका वह अद्‌भुत संयम और कौशल मैं कभी न भूल सकूँगा !

" 'वाह ! तुम्हारी बड़ी उमर है !' उसने ऐसे स्वर में कहा, जिसका अनुभव मुझे वर्षों से नहीं हुआ था—'हम घण्टों से इसी बात पर विचार कर रहे हैं, कि इतवार को जो मित्र-भोज होगा, उसमें कौन-सी गत बजाई जाय !—इसके निर्णय के लिये हम अभी-अभी तुम्हें याद कर रहे थे।'

"उसके इस कृत्रिम भाव ने, और 'हम' सर्वनाम के प्रयोग ने, मेरे हृदय में घोर घृणा का भाव भर दिया। मैं मुँह से कुछ न कहकर सिर्फ़ थोड़ा मुस्कुरा पड़ा।

"इधर उस पाजी ने कैफ़ियत देनी शुरू की, और मुस्कुराकर कहा—'मैं एक ख़ास गत का अभ्यास करने के लिये आया था। आप नहीं मिले, तो लौटा जारहा था। फिर बैठ-ही गया।' बात बिल्कुल साधारण थी। परन्तु मैंने

अनुभव किया कि कोरा झूठ बोला जारहा है, और मुझे बेवकूफ़ बनाया जारहा है !'

"बहुत देर तक मैं एक शब्द भी न बोल सका। मेरी स्थिति उस बोतल की तरह होगई, जो पानी से भरी हुई है, और जिसे एक-दम उलट दिया जाय, और अधिक भरी होने के कारण जिसमें से एक बूँद पानी भी न बिखरे। मेरी इच्छा—अपनी स्त्री को बुरा-भला कहने की, और उसे जूता मारकर बाहर निकाल देने की होती थी, पर न-जाने-क्यों फिर वहीं नरमी और सभ्यता का भाव मेरे मन में आगया ! मैं क्या कहूँ—मेरे व्यवहार से यह प्रकट होगया—कि जो-कुछ मैंने देखा, मैं उसे ठीक समझता हूँ। बहुत देर तक वह ठहरा रहा, और फिर ख़ुशी-ख़ुशी बिदा हुआ !

"मेरा दुर्भाग्य देखो—कि मैं उसे पहुँचाने बाहर-तक आया, और हाथ मिलाकर उसे बिदा किया !"



## १३

"दिन-भर मैंने उससे बात न की; इच्छा-ही न हुई। उसका उस दिन का कौशल देखकर मेरे मन में उसके प्रति ऐसी भयानक घृणा उत्पन्न होगई, कि एक बार तो मैं स्वयं अपने-आप से डर गया। दोपहर को, भोजन के वक़्त, बच्चों की उपस्थिति में-ही उसने मुझसे पूछा—'बाहर किस दिन जाओगे ?' अगले हफ़्ते मुझे शहर के बाहर डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड की सभा में योग देने के लिये जाना था। मैंने उसे तारीख़ बता दी। फिर उसने पूछा—'सफ़र के लिये किसी चीज़ की ज़रूर तो नहीं ?' मैं ने कुछ उत्तर न दिया, चुप बैठा रहा, और फिर चुपचाप उठकर पढ़ने के कमरे की तरफ़ चल दिया। अरसे से उसने मेरे कमरे में आना-जाना बन्द कर दिया था, और ख़ासकर दिन में तो जैसे क़स्म-ही खाली थी। मैं क्रोध से भरा कमरे में लेटा हुआ था। सहसा उसके पैरों की आवाज़ सुनाई दी, और मेरे हृदय में मानों किसी ने मुक्का मारकर कहा—कि लो, वह अपना पाप छिपाने के लिये ऐसे असमय में आरही है! क्रमशः कमरे के द्वार पर उसके सुडौल शरीर का अवतरण हुआ। मैंने उधर देखा, और उसकी आँखों में छिपे हुए, लज्जा और झेंप के एक अद्भुत भाव का दर्शन किया। मेरे गले में जैसे कुछ फँस गया, और मैं कुछ न बोलकर, सिगरेट पीने लगा।

" 'ख़ासे रहे! कोई भला आदमी आवे—तुम्हारे पास

बैठने, और तुम पीने लगो सिगरेट !'—कहती-कहती, वह मुझसे सटकर सोफ़े पर बैठ गई। मैंने शरीर सुकेड़ लिया, कि कहीं उससे छू न जाऊँ !

" 'मैं तुमसे कुछ रुष्ट थोड़ा-ही हूँ !'—मैंने कहा।

" 'मानों मैं कुछ समझती-ही नहीं।'

" 'खैर तो, इस समझ के लिये मैं तुम्हें बधाई देता हूँ। लेकिन मैं तो यह समझता हूँ—कि तुम धीरे-धीरे आवारः और ख़ानगी बनती जा रही हो। तुम्हारे लिये तो हर तरह का गन्दा-पन आनन्द का कारण है, पर मेरे लिये वीभत्स है !'

" 'वाह ! तुम तो इस बुरी तरह डाँटने लगे ! कहो तो मैं उठकर चली जाऊँ ?'

" 'जाओ, मगर यह याद रक्खो, कि अगर तुम हमारे ख़ान्दान की इज़्ज़त नहीं समझोगो, तो मैं ख़ान्दान के मुक़ाबले में तुम्हारा कुछ मूल्य न समझूँगा।'

"'लेकिन बात क्या है ? क्यों इतना बिगड़ते हो ?'

" 'बस, चली जाओ यहाँ से, परमात्मा के लिये चली जाओ !'

"पर वह गई नहीं, और तनकर कमरे के बीचों-बीच खड़ी हो गई।

"बोली—'तुम्हारा दिमाग़ अब मुझसे नहीं लिया जायगा !—मेरे चरित्र के सम्बन्ध में न-जाने क्या-क्या

वाहियात विचार तुम्हारे दिमाग़ में भर गये हैं। मैं अब सहन नहीं कर सकती !—जो ख़ुद बुरे होते हैं, वही दूसरों को बुरा समझते हैं।'

" 'जो तुम्हारे जी में आये कहो; मेरा अपमान करो, मुझे गालियाँ दो !'—कहते-कहते मैं हठात् इतना क्रोधित हो उठा, कि जीवन में पहले कभी न हुआ था।

"उस दिन पहली बार मेरी इच्छा कुछ मार-पीट कर-बैठने की हुई। एक-बारगी उछलकर मैं उसके पास पहुँच गया।

" 'निकल जा बाहर !'—मैंने उसे धक्का देते हुए चिल्ला-कर कहा। मुझे याद है, कि मेरे आचरण से वह इतनी भयभीत हो उठी थी, कि अपनी जगह से हिल भी न सकी। सिर्फ़ मरी आवाज़ में बोली—'वास्या, तुम्हें क्या हो गया है ? होश में आओ !'

" 'जा, टल जा मेरी आँखों के सामने से !'—मैंने आँखें निकालकर दुत्कारा—'इस वक़् मैं आपे में नहीं हूँ। तेरी शक्ल देखकर-ही मेरा हृदय जलने लगता है।'

"उसे पीटने के लिये, जान से मारने के लिये, मेरे प्राण व्याकुल हो उठे थे, पर जब वैसा करने की हिम्मत न पड़ी, और हाथ न उठा, तो मेज़ पर रक्खा हुआ, भारी पेपर-वेट उठा लिया, और चिल्लाकर बोला—'जाओ, चली जाओ।'—कहकर पेपर-वेट उसके पास फ़र्श पर दे मारा। मैंने

जान-बूझकर-ही उससे बचाकर फेंका था ।—वह भयभीत होकर कमरे से बाहर जाने लगी । मैं क्रोध से पागल बनकर मेज़ की तमाम चीज़ें उठा-उठाकर ज़मीन पर फेंकने लगा । उसने क्षण-भर द्वार पर ठिठककर मेरा कर्म देखा, और तब कमरे से बाहर होगई ।

"कोई घण्टा-भर बाद धाय ने आकर सूचना दी, कि उसे हिस्टीरिया का दौरा होगया है । मैं उसके पास गया । वह कभी रोती थी, कभी हँसती थी, मुँह से बोल न निकलता था, और सारा शरीर उसका काँप रहा था । कहूँ—मक्र नहीं कर रही थी, बल्कि सचमुच बीमार थी । उसी वक़्त डॉक्टर को बुलाया, और रात-भर मैं उसके पास बैठा रहा ।

"सुबह के क़रीब उसकी तबियत ठीक हुई, और मानों हमारी सुलह भी होगई । सुबह होने पर मैंने उसे साफ़ बता दिया, कि मैं त्रख़ाचवस्की को एक आँख नहीं देख सकता । मेरी बात पर उसे ज़रा-भी अचरज न हुआ, और वह खिलखिलाकर हँस पड़ी । कहने लगी—'ऐसे आदमी से···!—आदमी से क्यों न बन्दर से!—भालू से!—मैं दिल लगाऊँगी! हा! हा! हा! हा! एक भले घर की औरत ऐसे आदमी के साथ सिर्फ़ गा-बजा सकती है, इससे आगे बढ़ना असम्भव है!—छीः! कैसा सन्देह ? अगर तुम कहो, तो मैं अभी क़सम खालूँ—कि कभी उसका मुँह न देखूँगी । अगले

इतवार को भोज के दिन भी कहो, तो मैं उसे न बुलाऊँ। अगर मित्रों को निमन्त्रण भेजे जाचुके हैं, तो कोई पर्वाह नहीं। तुम्हीं उसे लिखदो, कि मैं बीमार हूँ, भोज स्थगित कर दिया गया है। बस, झगड़ा ख़तम, क़िस्सा पाक!'

"आप सच जानिये, मुझे ऐसा जान पड़ा, कि वह कोई भी बात बनाकर नहीं कह रही है। ये शब्द कहकर उसने मानों अपने हृदय में उसके प्रति सचमुच विरक्ति का भाव पैदा कर लिया, और निश्चय कर लिया, कि भविष्य में उससे अलग-ही रहना होगा। पर हाय! अन्त में वह अपने प्रयत्न में असफल रही। बहुत-सी बातें उसके विरुद्ध पड़ती थीं। और सब से ज्यादा तो वह सुसरा वायोलिन!—बस, तो इतवार के दिन मेहमान-लोग इकट्ठे हुए, और उन दोनों ने मिलकर बाजा बजाया!

"छः बजे के क़रीब सभी मेहमान आगये। वह आया शाम के लिबास में, और हीरे के बटन कफ़ में लगाये हुए। उसने बड़ी बे-तकल्लुफ़ी के साथ हम से बात की। मेरा हृदय में ईर्ष्या और द्वेष-भाव से धधक उठा। मेरी स्त्री ने यद्यपि मुझे अपनी स्वच्छता का विश्वास दिला दिया था, तोभी यह मुझ से न होसका, कि उनकी भाव-भंगी पर कठोर दृष्टि न रक्खूँ।

"भोज आरम्भ हुआ। वह उठकर अपना वायोलिन लाया, मेरी स्त्री पियानो के पास जाकर गीतों की पुस्तक के पन्ने पलटने लगी। हाय! उस समय की ज़रा-ज़रा-सी बात

मेरे स्मृति-पटल पर सदा के लिये खुद गई है। मुझे याद है, मेरी स्त्री किस तरह का वैराग्य-भाव बनाकर बैठी थी, और उसकी झुकी हुई आँखों के भीतर मुझे किस भयानक लज्जा और दुर्बलता का आभास मिला था! मुझे याद है, किस तरह सुर निकलने शुरू हुए थे, किस तरह दोनों की आँखें चार हुई थीं, और उपस्थित-जनों की ओर नज़र फेंककर किस अन्दाज़ से बाजा शुरू हुआ था!"

पज़नीशव रुका, और दो-तीन बार कण्ठ से वही विचित्र आवाज़ निकाली। उसने आगे बोलने की भर-पूर चेष्टा की, पर सहसा कुछ न बोल सका।

"उन्होंने बीथवेन का एक राग बजाना शुरू किया।" आख़िर उसने कहना शुरू किया—"आह! कितना भयानक है, वह राग!—और उसका पहला अंश तो ग़ज़ब-का है! क्यों भयानक है, और क्यों ग़ज़ब-का है, यह मैं नहीं बता सकता—कोई भी नहीं बता सकता। और गाने-बजाने की आवश्यकता-ही क्या है? लोग कहते हैं, मन में हर्ष उत्पन्न करता है। छीः! यह ग़लत है! उसका एक ख़ास असर होता है, मैं सिर्फ़ अपनी-ही बात कह रहा हूँ—उस असर को हर्ष उत्पन्न करनेवाला नहीं कहा जा सकता। उससे तो एक प्रकार की उत्तेजना, आवेग और पशुता के भाव का उदय होता है। पर यह सब होता क्यों है—यह मैं नहीं जानता। मैं तो कहता हूँ, जिसने उस राग

की—या कहूँ किसी भी राग की—रचना की, वह ज़रूर ऐसी-ही दशा में आगया होगा। मेरा विश्वास है, कि गान का उदय आवेग और उत्तेजना से-ही हुआ है। अगर मेरी बात में आपको कुछ सन्देह हो, तो लीजिये, उदाहरण से मैं उसे स्पष्ट किये देता हूँ। देखिये, जब फ़ौजी बाजा बजता है, तो फ़ौज के सिपाही, आवाज़ पर क़दम उठाते हैं, आवाज़ पर बढ़ते हैं, और आवाज़ पर-ही जोश में आकर मर मिटते हैं। बाजा बजता है, नाँच हो रहा है, और हम सब-कुछ भूलकर, मज़े ले-लेकर नाँचते हैं। बस, मैं तो कहूँगा—कि गान में, बाजे में, एक जादू है, जो मनुष्य की नस-नस में बिजली का असर पैदा करता है, और उसे उन्मत्त बना देता है। इसीलिये मैं कहता हूँ—अगर किसी लम्पट, चरित्र-हीन आदमी के हाथ यह विद्या लग जाय—तो न-जाने वह क्या-क्या अनर्थ कर डाले!—जैसा कि हुआ!

"उस राग को सुनकर मैं बहुत उत्साहित हो उठा। यहाँ-तक-कि जो ईर्ष्या और द्वेष के भाव पहले मेरे मन में उदित हुए थे, उस गान के बाद वे लगभग नष्ट होगये। हृदय भी बहुत हल्का प्रतीत होने लगा। न-जाने कैसा जादू उस राग ने मुझ पर डाला—कि उस दिन तो अपनी स्त्री भी मुझे दूसरे-ही रूप में दिखाई दी। और उस वक़्त ये दोनों जब आपस में साधारण हँसी-दिल्लगी करने लगे,

तो मेरे मन में ज़रा भी दुःख अथवा द्वेष का भाव उत्पन्न न हुआ। दो दिन बाद मुझे सभा के लिये बाहर जाना था, उसने अपने बाजे-वग़ैरा समेट-समाट लिये, और जब चलने लगा, तो पूछा—'आप सभा में-से कब तक लौट आयेंगे ? मैं चाहता हूँ, मॉस्को छोड़ने के पहले आपसे कम-से-कम एक दफ़ा तो और मिल जाऊँ।' मैंने कहा—'आपके मॉस्को छोड़ने से पहले शायद-ही आ सकूँ !' अतएव वह उसी समय मुझसे विदा लेकर चला गया। चलते-चलते कहने लगा—'आशा है, फिर मॉस्को आने पर आप लोगों से भेंट होगी।' सुनकर मैंने समझा, कि मेरी अनुपस्थिति में वह मेरे घर पर आने का विचार नहीं रखता है। इससे मुझे एक प्रकार का सुख मिला।

"उस दिन पहले-पहल मैंने असली ख़ुशी के साथ उसका हाथ पकड़कर दबाया, और सच्चे हृदय से उसे धन्यवाद दिया। उसने मेरी स्त्री से भो मानों अन्तिम विदा ली। उनका यह विदा-अभिनय बिल्कुल स्वभाविक और साधारण था। सच बात यह है, कि हम दोनों-ही स्त्री-पुरुष अपने मन में उसदिन के भोज के लिये प्रसन्न थे ! उस दिन एक अरसे के बाद, मैंने अपनी स्त्री से, प्रेम-पूर्वक, खुलकर वार्त्तालाप किया !"

---

१४

"इस के दो दिन बाद मैं अपनी स्त्री से विदा होकर ख़ुश-ख़ुशी सभा में योग देने के लिये चला।

"वहाँ मैं दो दिन रहा। तीसरे दिन मेरी स्त्री का पत्र मुझे मिला। मैंने सभा में-ही खोलकर उसे पढ़ा।

"उसने बच्चों का ज़िक्र किया था, धाय का सलाम लिखा था, अपने चचा के स्वास्थ्य के विषय में लिखा था, बाज़ार से क्या-क्या ख़रीदकर लाई, यह भी लिखा था, और एक साधारण घटना की तरह यह भी लिख दिया था—कि 'वह' आया था, साथ में अपना बाजा भी लाया था, और उसने मेरे साथ बजाने की इच्छा प्रकट की थी, पर मैंने इन्कार कर दिया

"इस अन्तिम समाचार को पढ़कर मेरे मन पर अद्भुत धक्का-सा लगा। मुझे याद था—कि वह हम लोगों से अन्तिम विदा लेकर गया था। फिर कैसे मेरे बाद में वह आ पहुँचा? अस्तु—उस समय तो मैं सभा के काम में व्यस्त था, अतएव उस सम्बन्ध में अधिक न सोच सका, परन्तु सन्ध्या-समय जब अपने डेरे पर पहुँचकर पत्र को दोबारा पढ़ा, तो अच्छी तरह सोच-विचार करने लगा।

"सिवा इस सत्य के कि, त्रख़ाचवस्की मेरे घर पर आया, मुझे पत्र की सब बातें झूठी और मन-घड़न्त जान पड़ती थीं। मेरे मन का भयानक द्वेष कलेजा फाड़कर बाहर

आने को हुआ। पर मैंने कोशिश करके, अपने आप को संयत किया, और मन-ही-मन कहा—'छिः! मैं भी कैसा पागल हूँ! भला उसने जो लिखा है, इस में अविश्वास की कौन-सी बात है?'

"मैं पलँग पर लेटकर अगले दिन के कार्य-क्रम पर विचार करने लगा। दो दिन से मुझे उस नई जगह में नींद नहीं आई थी, पर उस उस दिन मैं फ़ौरन्-ही सो गया।—और शायद कभी आपको भी अनुभव हुआ हो, सहसा एक बिजली का-सा झटका लगा, और मेरी नींद खुल गई। जब आँख खुलीं, तो मन में पहला भाव मेरी स्त्री, और त्रखा-चवस्की का उदय हुआ। क्रोध और आशङ्का से मेरा हृदय भर उठा। पर मैं धीरे-धीरे अपना मन समझाने लगा—'क्या वाहियात है! बात-ही क्या है? कुछ नहीं, न कुछ थी, न कुछ है। उसके सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करके मैं क्यों उसे नीचे गिराऊँ, और ख़ुद अपने-आप को भी क्यों इतना शङ्का-शील और डाँवाँडोल स्थिति में रक्खूँ? कहाँ वह—एक पेशेवर, निकम्मा बाजा बजाने-वाला—कहाँ मेरी स्त्री, चार बच्चों की माँ, बड़े आदमी की औरत……! छिः! मेरा कैसा पागलपन है!' एक तरफ़ तो मेरे मन में यह भाव उठे, और दूसरी तरफ़ यह, कि—'और अगर हो-ही गया हो, तो क्या आश्चर्य्य है! दुनियाँ में इसी काम को सब से ज़्यादा महत्व दिया जाता है। मैंने जीवन-भर इसी काम

से ग़र्ज़ रक्खी, हरेक पुरुष इसी काम के पीछे अपनी स्त्री से दबा रहता है। अगर इस पापिष्ठ ने भी मेरी स्त्री से वैसा-ही प्रस्ताव किया हो—तो क्या आश्चर्य्य है? अच्छा-ख़ासा, स्वस्थ और सुन्दर युवक है! और ऐसा जान पड़ता है, कि जहाँ जैसा आनन्द प्राप्त हो—वहीं उसका उपभोग करना उसका सिद्धान्त है। और फिर उनके बीच में तो बाजा है—जो न-जाने क्या अनर्थ करादे! क्या वस्तु उसे बाधा दे सकती थी? मेरी स्त्री? पर मेरी स्त्री है कौन? वह तो जैसे हमेशा एक रहस्य की पुतली-ही रही, और है। मैंने उसे आज तक न पहचाना। मैंने तो सदा उसे अपनी वासना-पूर्ति का साधन बनाये रक्खा, और हमेशा उसके साथ लड़ने-झगड़ने में लगा रहा। कौन उनकी रक्षा करेगा?

"तब उस वक़्त मुझे याद आया—उनका वह उत्तेजक, बल्कि अश्लील, राग—जो उन्होंने बीथवेन के राग के बाद एक-दूसरे को रस-भरी आँखों से देखते हुए बजाया था! मैं एक-बारगी सिहर उठा। क्या उस वक़्त की उनकी भाव-भङ्गी से यह अनुमान नहीं किया जासकता था—कि सब-कुछ होचुका है?—अनर्थ की तैयारी होचुकी है? क्या उस वक़्त यह कल्पना नहीं की जासकती थी—कि जो-कुछ हुआ—उसके लिये, उनके मुँह पर, ख़ासकर मेरी स्त्री के मुँह पर, लज्जा का भाव था? मुझे याद है, कि उस दिन

जब मैं पियानो के पास पहुँचा था, तो बहुत-ही घबराकर उसने खास अन्दाज़ से माथे का पसीना पोंछा था ! मेरी उपस्थिति में वे जान-बूझकर एक-दूसरे की तरफ़ नहीं देखते थे, पर एक बार जब वह पानी उँडेल रहा था, तो दोनों एक-दूसरे की तरफ़ देखकर किस शान के साथ मुस्कुराये थे !! बस ! 'जो होना था, सो होचुका !'—एक आवाज़ ने तो यह कहा, और दूसरी ने फ़ौरन्-ही कहा—'तुम्हारा दिमाग़ ख़राब होगया है। ऐसा नहीं होसकता !' उस समय मुझे चारों तरफ़ अन्धकार दीखने लगा, और मैं उस अन्धकार में भटककर एकबार भयभीत हो उठा। मैंने एक सिगरेट निकालकर जलाया, और मन की हिलोरों को शान्त करने के लिए क्रमशः कई सिगरेट ख़त्म कर दिये।

"फिर, रात-भर मैं न सो सका, और पाँच बजे, अँधेरे में-ही उठकर खड़ा होगया। मैंने निश्चय कर लिया, कि ऐसे आन्दोलित विचार मन में रखकर मैं यहाँ नहीं रह सकता। मैं उठा, और नौकर को जगाकर घोड़े मँगाये। मैंने एक पत्र लिखकर सभा के कार्यकर्त्ताओं को भेज दिया, कि मॉस्को से पत्र आया है, और मैं ज़रूरी काम से इसो-दम जारहा हूँ। ठीक आठ बजे मैं गाड़ी में सवार हुआ, और रवाना होगया।"

इसी समय चेकर हमारे डब्बे में आया। बत्ती क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुकी थी, अतएव उसने बुझा दी। दिन

निकल रहा था। झुटपुटा-सा था। पज़नीशव चुप रहा, पर जब-तक चेकर कमरे से बाहर न निकल गया, बराबर लम्बी-लम्बी आहें लेता रहा। जब उस अन्धकार में केवल रेल की खिड़कियों की खड़खड़ाहट और पास सोते हुए क्लर्क के ख़ुर्राटों की मज़ेदार आवाज़-ही सुनने को रह गई, तो उसने अधिक उत्तेजित और कातर स्वर में अपनी कहानी पुनः शुरू की।

"चौबीस मील तो मैं घोड़ा-गाड़ी में गया, और तब आठ घण्टे का सफ़र बीता—रेल में। घोड़ा-गाड़ी में जब आरहा था, तो रस्ते में अकस्मात् एक धुरा टूट गया। और उसकी मरम्मत के लिये कुछ घण्टे रस्ते में रुकना पड़ा। इस दुर्घटना के कारण मुझे शाम को ट्रेन न मिली, और शाम की जगह मैं रात के बारह बजे के बाद मॉस्को पहुँचा। रास्ता बड़े मज़े-से गुज़रा। चाँद पूरी शोख़ी पर था, हल्का कुहरा था, और रास्ता अच्छा था। मैंने इन प्राकृतिक दृश्यों का जी भरकर उपभोग किया, क्योंकि न-जाने-कैसे मेरा दिल कहता था—कि यह आनन्द-अनुभव अन्तिम है। पर मेरा यह भाव घोड़ा-गाड़ी में-ही रह गया था।— जब मैं ट्रेन में सवार हुआ, तो मेरे भाव बिल्कुल-ही दूसरे थे। वह आठ घण्टे का सफ़र मेरे लिये पहाड़ होगया, और मुझे वह जीवन-भर न भूलेगा। बैठते-ही मेरे मन में द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध और क्षोभ की आँधी-सी उठने लगी, और मेरी अनुपस्थिति

में घर पर जो लीला रची गई होगी—उसके तरह-तरह के चित्र मेरी आँखों-आगे से नाँच-नाँचकर जाने लगे। मैंने सिर-तोड़ कोशिश की, कि ये विचार मेरे मन में न आवें,—पर वे आये,—और आये। ऐसा जान पड़ता था, कि कोई भूत मुझे चिपटा जारहा है, और मेरे घर की असलियत का ख़ाका मेरे सामने खींचकर मेरी दयनीय स्थिति पर अट्टहास कर रहा है। तरह-तरह का विषय, राग-रँग की बातें, नये-नये चित्र, बदल-बदलकर मेरी आँखों-आगे आरहे थे। मेरा प्राण उस समय एक अद्भुत घुमस में पड़कर एक-बारगी व्याकुल हो उठा, और मैं जैसे अपने तन-बदन की सुध भूल गया!

"मैंने नये-नये, दूसरे-दूसरे विचार मन में लाकर इस बात की कोशिश की, कि उन दोनों की याद कुछ देर के लिये मेरे मन से निकल जाय। पर मैं असफल रहा। घूम-फिर कर वे-ही दोनों, और उन्हीं दोनों के कारनामे मेरी आँखों-आगे पहाड़ बनकर खड़े होजाते थे, और मैं भय, आशंका, और उन्माद के वशीभूत होकर आँखें मींच लेता था।

"हरेक स्टेशन पर उतरकर मैं प्लैटफ़ॉर्म पर घूमने लगता था। एक स्टेशन पर मैं चाय पीने लगा। पास-ही एक यहूदी खड़ा चाय पी रहा था। मैंने उससे दोस्ती गाँठ ली, और उसके गन्दे थर्ड क्लास के कमरे में उसके

साथ-ही जो बैठा। बहुत देर-तक बैठा-बैठा मैं उसकी पौरा-णिक गाथायें सुनता रहा। पर सुनता क्या रहा—यों कहूँ—कि उसके शब्द मेरे कान पर पड़ते रहे। मैंने उसकी एक बात भी न समझी, क्योंकि मैं तो अपनी-ही धुन में मस्त था। मुझे तो तन-बदन की भी सुध न थी। मैं तो एक भयानक दृश्य की कल्पना कर रहा था। यहूदी ने यह अनु-भव किया, और अपनी बात ख़त्म करदी। अगले स्टेशन पर मैं अपने डब्बे में वापस आगया, और फिर उन्हीं विचारों में पड़ गया।

## १५

"मॉस्को से दो स्टेशन पहले चेकर टिकट इकट्ठे करने आया, मैंने अपनी चीज़-बस्त समेटकर रक्खी, और प्लैट-फ़ॉर्म पर उतर गया। आनेवाले दृश्य की कल्पना ने मेरे हृदय में भयानक हिलोरें पैदा करनी शुरू कीं। सारे शरीर में तेज़ सर्दी चढ़ आई, और मेरा जबड़ा इतने ज़ोर-से हिलने लगा, कि दाँत कटकटा गये।

"मॉस्को का स्टेशन आया; तो मैं झट-से प्लैट-फ़ॉर्म पर उतर पड़ा। मुझे होश नहीं, मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, और कहाँ जा रहा हूँ। ब्रेक से सामान भी उतरवाना याद न रहा। कब याद आया, जब गाड़ी में बैठा घर की तरफ़ जारहा था। पर बिल्टी मेरे पास थी। सोचा—घर पहुँचकर नौकर को भेज दूँगा।

"उस समय की प्रत्येक बात का मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं। क्या विचार मन में आये?—मुझे ज़रा भी याद नहीं। मुझे तो सिर्फ़ यही याद है—कि उस समय मेरे मन में ऐसा भाव था—कि शीघ्र-ही किसी भयङ्कर घटना से सामना होगा। आधी रात बीत चुकी थी, जब मैं अपने घर के पास पहुँचा। पास-ही एक-दो गाड़ी-वाले खड़े थे। मेरे घर के नाँच-घर की खिड़कियों में-से रोशनी बाहर निकल रही थी। बिना इसपर विचार किये, कि इतनी रात-बीते क्यों रोशनी हो रही है, मैं उसी उन्माद और अर्द्ध-मूर्च्छित स्थिति में ऊपर चढ़ा, और घण्टी बजाई। दरबान ईगर ने आकर दर्वाज़ा खोला। सब से पहले जिस चीज़ पर मेरी नज़र पड़ी, वह एक ओवरकोट था, जो सामने-ही हॉल में खूँटो पर टँगा हुआ था। मुझे आश्चर्य्यित होना चाहिये था, पर नहीं हुआ;—क्योंकि, कहूँ—मैंने पहले-ही उसकी कल्पना की थी। 'यह बात!' मैंने आप-ही-आप कहा, और ईगर से पूछा—'कौन महाशय हैं, भीतर?'—तो उसने त्रखाच-वस्को का नाम लिया। मैंने पूछा—'और भी कोई है?' तो उसने उत्तर दिया—'न, और कोई नहीं।' मुझे याद पड़ता है, कि उसने यह पिछला उत्तर इसलिये दिया था, कि मैं यह सुनकर निश्चिन्त हो जाऊँ, कि कोई अजनबी आदमी मौजूद नहीं है। मैंने मन-ही-मन कहा—'यह बात! यह बात!'—और पूछा—'बच्चे कहाँ हैं?' उसने जवाब

दिया—'परमात्मा की दया से सब राज़ी-खुशी हैं; अब तो सब सो गये हैं।'

"साँस निकलनी मुश्किल होगई, और दाँत भी न कट-कटाये। एक बार ज़ोर-से दौड़ने की इच्छा हुई, पर किसी ने मन में कहा—'अरे, रोओगे, तो वे लोग सावधान हो जायेंगे, और वह पाजी चुपचाप निकल जायगा। तुम जीवन-भर के लिये भ्रम और सन्देह के झकोलों में पड़कर परेशान रहोगे।' बस, मेरी व्यग्रता और व्यथा एक प्रकार से ग़ायब होगई, और सतर्कता, उत्सुकता और एक अजीब तरह के उत्साह का प्रादुर्भाव होगया!

" 'ठहरो!'—ईगर से जो ड्रॉइङ्ग-रूम की तरफ़ जा रहा था, मैंने कहा—'यह देखो, मेरे असबाब का टिकट है। एक गाड़ी पकड़ लो, और स्टेशन जाकर जल्द मेरा सामान लिवा लाओ। जाओ!' वह ओवर-कोट लेने के लिये अपनी कोठरी में गया। मैं इस डर से—कि कहीं वह आहट करके उन दोनों को चौंका न दे, उसके साथ-साथ-ही गया, और जब-तक ओवरकोट पहनकर वह बाहर न निकल गया, उसके पास-ही खड़ा रहा। जहाँ मैं खड़ा था, वहाँ भीतर-से काँटे-छुरी की आहट, और उनके बात-चीत करने की आवाज़ सुनाई दे रही थी। वे शायद इतने व्यस्त थे, कि घण्टी की आवाज़ भी उनके

कान में न पड़ी। यह सोचकर मेरा मन धक-धक करने लगा—कि कहीं वे इस वक़्त बाहर न निकल पड़ें! ईगर ने अपना अस्तरख़ान के कॉलर-वाला कोट पहना, और चला गया। मैंने भीतर से मकान का दर्वाज़ा बन्द कर लिया, और एक अजीब तरह के सन्तोष का साँस लिया। अब आगे क्या करना···इस सम्बन्ध में अभी-तक निश्चय न कर पाया था। मेरे मन में तो केवल यही भाव था, कि सब-कुछ हो चुका है! उसके पाप के सम्बन्ध में ज़रा भी शङ्का नहीं है, उसके पाप के लिये उसे फ़ौरन् दण्ड मिलना चाहिये और उसके और अपने बीच की काग़ज़ी दीवार को फ़ौरन् नष्ट कर देना चाहिये।

"पहले तो मेरे मन में यह विचार भी कई बार आया था—'शायद मेरा अनुमान ग़लत हो!—शायद मुझसे भूल हुई हो!' पर अब वैसा कोई भाव नहीं था। बिना मेरी इच्छा आज्ञा और सूचना के वह रात के वक़्त एक पर-पुरुष के साथ एकान्त में बैठी है! किसी की भी पर्वाह उसने न की! भयानक दुस्साहस है! सब-कुछ आइने की तरह साफ़ है—ज़रा-भी शक की गुञ्जाइश नहीं।' इस समय तो मुझे एक-ही शङ्का थी।—कहीं वह सरक न जाय, और मुझे उनका ख़ून पीने की मुहलत न मिले! बस, मैं पञ्जों के बल जल्दी-से चल दिया नाँच-घर की तरफ़!

"बीच के एक कमरे में बच्चे सोरहे थे। दूसरे कमरे

में धाय थी। मेरी आहट से उसने करवट बदली, और जागने को हुई। मैं पञ्जों के बल शीघ्रता-पूर्वक अगले कमरे में पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर मैंने जूते उतार डाले, और मोज़े पहने-पहने उधर चला, जहाँ मेरे हथियार लटके रहते थे। मैंने एक तेज़ और नया चमचमाता हुआ ख़ंजर उतार लिया। मुझे याद है, कि उसकी म्यान ज़मीन पर गिर पड़ी थी, और वहीं पड़ी रह गई थी। तब मैंने ओवर-कोट उतार डाला, और मोज़ा पहने-ही उस कमरे के पास पहुँच गया। मुझे याद नहीं, कैसे मैं वहाँ पहुँचा !—दौड़कर गया, या धीरे-धीरे, किस कमरे में होकर, किस रास्ते से, मैं वहाँ पहुँचा ! वह बिल्कुल एक स्वप्न की तरह था, जो इस जीवन में कभी याद न आयगा !

"रेंगता हुआ दर्वाज़े पर पहुँचा, और फिर उसे एक-बारगी खोल दिया। उनके चेहरे का भाव मुझे ठीक-ठीक याद है। क्यों याद है भला ?—इसलिये कि उसे देखकर मेरे मन में बीभत्स आनन्द हुआ।—जैसे किसी ने चेहरे पर हल्दी पोत दी हो ! यही मैं देखना चाहता था, इसी की मैंने कल्पना की थी। उनका वह भय-ग्रस्त चेहरा मैं कभी नहीं भुला सकता। वह मेज़ के पास कुर्सी पर बैठा हुआ था, पर मुझपर नज़र पड़ते-ही सिहरकर आल्मारी के पास जाखड़ा हुआ। उसके मुखपर घोर भय का भाव था !—मानों काटो तो ख़ून नहीं ! पर इस भय के साथ एक और

भाव भी छुपा हुआ था। अगर कोरा भय होता, या जो दूसरा भाव था, वह न होता—तो जो घटना घटित हुई, वह शायद न होती! इधर मेरी स्त्री के मुख पर तो मुर्दनी छा गई थी, और दिमाग़ उसका चक्कर खाने लगा था। उस ग़रीब ने क्या यह कल्पना की थी—कि क्षण-भर में क्या-से-क्या हो जायगा! क्षण-भर के लिये ऐसा जान पड़ा, कि वह इस समय सिवा इसके और कुछ नहीं चाहती थी, कि कोई उनके इस आनन्द में बाधक न हो।

"आधी मिनट-तक मैं, ख़ंजर को पीठ-पीछे किये, घूर-घूरकर दोनों को ताकता रहा। सहसा उस पाजी ने सम्हल-कर मेरी तरफ़ देखा, और मुस्कुराकर कहा—'ख़ूब आये आप! हमें तो एक गत का अभ्यास करते-करते घण्टों बीत गये!—पता-ही न लगा!'

"'कैसे आश्चर्य्य की बात है!'—मेरी स्त्री ने भी उसकी आवाज़ में आवाज़ मिलाकर कहा। पर मैंने किसी को आगे न बोलने दिया। हफ़्ते-भर से रह-रहकर जिस उत्तेजना और आवेश का अनुभव कर रहा था, मैं एक-बारगी उसके वशीभूत होगया। तेज़ी-से आगे बढ़कर मैं उनकी तरफ़ चला। खंजर को अब तक पीठ-पीछे छिपाये हुए था।—मैं नहीं चाहता था, कि वह आगे बढ़कर मेरे कर्म में बाधा दे। मैं उसकी छाती के ऐन नीचे, कलेजे में, वार करना चाहता था। पहले से-ही वह जगह मैंने निश्चित्

कर ली थी। जैसे-ही मैं उसके पास पहुँचा, कि त्रखाचवस्की ने अप्रत्याशित भाव से मुझे पकड़ लिया, और चिल्लाकर कहा—'ज़रा सोचो, तुम क्या करने जा रहे हो !......अरे, कोई दौड़ो......बचाओ......बचाओ......!'

"मैंने झटका देकर अपने-आप को छुड़ा लिया, और उसकी तरफ़ बढ़ा। वह फिर अप्रत्याशित भाव से पियानो के नीचे होकर दर्वाज़े पर आ पहुँचा, और वहाँ से लपक-कर यह जा...वह जा ! एक बार मैंने सोचा, उसका पीछा करूँ, पर हठात् किसीने मेरे कन्धे को छुआ। मैंने सिर घुमाया, देखा—वह थी ! मैंने छूटने की कोशिश की, पर वह मेरे कन्धे को ज़ोर-से पकड़कर लटक गई ! इस आक-स्मिक बाधा, और उसके घृणा-पूर्ण स्पर्श ने मेरी क्रोधाग्नि को प्रज्ज्वलित कर दिया। मुझे ऐसा अनुभव हुआ—कि मानों क्षण-भर में-ही मैं पागलों से बदतर बन गया। मैंने पूरे ज़ोर के साथ घूमकर कन्धा छुड़ा लिया, और मेरी कोहनी भनभनाती हुई उसके मुँह पर बैठी। उसने चिल्लाकर कन्धा छोड़ दिया। मैं भागकर उस पाजी भगोड़े के पीछे जाना चाहता था। पर फिर सोचा, अपनी स्त्री के प्रेमी के पीछे मोज़े-पहने भागना बड़ा हास्यास्पद होगा ! अतः वह विचार छोड़ दिया। क्रोध-से पागल होने पर भी मेरी विवेक-बुद्धि का बिल्कुल नाश नहीं हुआ था। तब मैं अपनी स्त्री की तरफ़ घूमा। वह कोच पर पड़ रही, और अपने

घायल चेहरे पर हाथ रखकर मेरी तरफ़ ताकने लगी। उसकी आँखों में भीषण भय और घृणा का भाव था, ठीक वैसा-ही, जैसा पिंजरे में बन्द चूहे की आँखों में होता है। पर तोभी, मैं शायद ख़ामोश रहता, और वह अनर्थ न होता—अगर वह केवल चुप रहती। पर उसने तो तुरत-ही बोलना शुरू कर दिया, और मेरा ख़ञ्जर-वाला हाथ कस-कर पकड़ लिया।

" 'होश में आओ! क्या कर रहे हो? क्या बात है? कुछ नहीं हुआ है, कुछ नहीं हुआ है,—मैं क़सम खाकर कहती हूँ!'

"अब तक मैं शायद शान्त रहता, पर उसके इन अन्तिम शब्दों ने मेरी क्रोधाग्नि भड़का दी। जो कुछ सरी-हन् देखा—क्या उससे वह नतीजा नहीं निकलता? मैं झूठा, मेरी आँखें झूठी, और यह विश्वास-घातिनी सच्ची??—सरासर मुझे झूठा बनाना चाहती है!

" 'हरामज़ादी! झूठ बकती है!' मैंने चीत्कार किया। —और बाँये हाथ से कसकर उसका कन्धा पकड़ लिया। पर उसने झटका देकर छुड़ा लिया। तब मैंने उसकी गर्दन पर हाथ डाला, और ज़ोर-से उसे पीछे धकेल दिया। कैसी मज़बूत गर्दन थी!......उसने दोनों हाथों से मेरा हाथ अपने गले से दूर करना चाहा—यानी मेरा ख़ञ्जर-वाला हाथ उसने छोड़ दिया, और मैंने—जैसे इसी की प्रतीक्षा कर

रहा था—तेज़ी-से ख़ञ्जर का भर-पूर वार उसकी पसलियों में किया।

"लोग कहा करते हैं, कि भयानक क्रोध के वशीभूत होकर जो कुछ किया जाता है, याद नहीं रहता। मैं कहता हूँ, ये लोग पागल हैं, गधे हैं! मुझे उस वक़्त की एक-एक बात याद थी, और क्षण-भर के लिये भी मेरी स्मरण-शक्ति लुप्त नहीं हुई। बल्कि मेरा क्रोध जितना अधिक बढ़ा, मेरी चेतना-शक्ति भी प्रायः उतनी-ही प्रदीप्त हुई। जो-कुछ मैंने किया, मुझे सब याद है। मैं यह नहीं कहता—कि जो-कुछ मैंने किया, उसकी मैंने ठीक-ठीक कल्पना मन में बैठाली थी, बल्कि जो-कुछ मैं कर चुका, वह सब मुझे याद है। जिस समय मैंने हमला किया—तो मुझे होश था—कि मैं कोई अजीब, बीभत्स कर्म कर रहा हूँ, और जिस समय मेरे ख़ञ्जर ने उसके शरीर का स्पर्श किया, उसका अनुभव भी मैं अभीतक कर सकता हूँ। तोभी मैंने फलाफल की चिन्ता छोड़कर पलक-झपकते, जो करना था, सो कर डाला! मुझे याद है—किस तरह ख़ञ्जर की नोक ने पहले उसकी कोर्सेट को स्पर्श किया, और फिर किसी मुलायम पदार्थ में धसता चला गया। मुझे याद है, उसने ख़ञ्जर को दोनों हाथों से रोकने का प्रयत्न किया था, और अपने दोनों हाथ कटा बैठी थी!

१६

"इसके बाद, जेल में, जब मुझे काफ़ी सोचने-विचारने का मौक़ा मिला, और मेरे व्यक्तित्व में एक विचित्र नैतिक परिवर्त्तन आगया, तो मैंने अनेक बार उस भयानक समय की कल्पना की थी। मुझे याद आया—कि उस समय क्षण-भर को—केवल क्षण-भर को—मेरे मन में यह विचार आया था, कि मैं एक अरक्षित अबला की हत्या कर रहा हूँ!—कर चुका हूँ! मुझे उस विचार की बीभत्सता की स्मृति है, और यह भी मुझे याद है, कि मैंने खञ्जर घुसेड़ने के बाद फ़ौरन्-ही बाहर निकालकर उसे जीवित रखने और अपने कर्म का प्रतिकार करने का उद्योग किया था। और मैं क्षण-भर निस्तब्ध खड़ा, यह देखता रहा था—कि क्या होता है, और जो-कुछ मैंने किया, वह वापस आता है, या नहीं।

"वह उछलकर एक-बारगी खड़ी होगई थी, और चीख़, कर बोली—'धाय!······जल्दी दौड़ो!······मैं मरी!'

"शोर सुनकर धाय दर्वाज़े के पास आखड़ी हुई थी। मैं अविचल, वहीं-का-वहीं खड़ा रहा। जो-कुछ हुआ उसकी सत्यता पर एक बार जैसे विश्वास न हुआ। पर सरीहन् ख़ून उसकी कोर्सेट से नीचे मे फ़ौवारे की तरह छूट रहा था। बस, तब मैं समझ गया—कि जो-कुछ होना था—सो होगया, अब वह वापस नहीं आ सकती। मैं चुप

चाप, तब तक वहीं खड़ा रहा, जब वहीं ज़मीन पर पछाड़ खाकर गिर पड़ी, और धाय—'हाय ! भगवान !' चिल्लाकर उसके पास दौड़ आई।—तब मैंने खञ्जर फेंक दिया, और कमरे से बाहर निकल गया !

" 'मैं उत्तेजित न होऊँगा। मैं अब सोचूँगा—कि मैं कर क्या रहा हूँ !'—उसकी मृत देह की तरफ़ देखे-बिना-ही मैंने मन में कहा। धाय चीख़-चीख़कर दासी को पुकार रही थी। नीचे आकर मैंने दासी को ऊपर भेज दिया, और चुपचाप पढ़ने के कमरे में चला गया। तब मैंने अपने-आप से पूछा—'क्या करना चाहिये ?'—और आप-ही-आप कहा—'बस, वही…!'—मैं सीधा उस दीवार की तरफ़ चला, जहाँ हथियार थे, और एक भरा हुआ रिवॉल्वर उतार लिया, और उसकी परीक्षा की। ठीक था। तब मैंने ज़मीन पर पड़ा हुआ खञ्जर का म्यान उठाया, और सोफ़े पर बैठ गया।

" बहुत देर-तक उसी तरह बैठा रहा। मन में किसी तरह का कोई विचार नहीं था। बाहर कपड़ों के सरसराने की आवाज़ आरही थी। किसी के ऊपर जाने की आहट सुनाई दी, फिर किसी और के ! तब मैंने ईगर को अपना ट्रङ्क उठाकर जाते देखा।…जैसे अब किसी को उसकी ज़रूरत हो !

" 'कुछ सुना है तुमने—क्या घटना होगई है ?' मैंने पूछा

'माली से कहो—पुलीस में ख़बर दे।' उसने जवाब न दिया, और बाहर चला गया। मैं उठा, भीतर से कमरे का ताला बन्द किया, सिगरेट और दियासलाई निकाली, और पीने लगा। सिगरेट ख़तम भी नहीं हुआ था, कि नींद ने धर दबाया। कोई दो घण्टे-तक बराबर सोता रहा। स्वप्न में देखा—कि हम दोनों राज़ी-ख़ुशी हैं, और सुख-पूर्वक जीवन बिता रहे हैं! सहसा किसी के दर्वाज़ा खटखटाने से मेरी निद्रा भङ्ग हुई। 'पुलीस आ पहुँची!' जागते-ही मैंने सोचा—'शायद मैंने ख़ून कर डाला है!......पर नहीं, वह तो स्वप्न था; यह तो, मालूम होता है, ख़ुद 'वही' आई है, कुछ भी नहीं हुआ है। सब ठीक है!" दर्वाज़ा किसी ने फिर खट-खटाया। मैंने जवाब न दिया! मैं तो यह सोच रहा था—कि वह घटना सच थी, या केवल स्वप्न! न, सच-ही थी! मुझे कोर्सेट और मुलायम पसलियों में ख़ञ्जर घुसेड़ने की याद आगई। 'ज़रूर वह घटना हुई है, बस, अब मुझे भी अपनी वही गति करनी होगी!'—मैंने यह सोचा। पर साथ-ही यह विचार भी मेरे मन में आया, कि मुझे ऐसा करना चाहिये नहीं। तोभी मैं उठ खड़ा हुआ, और रिवॉल्वर हाथ में ले लिया। पर आश्चर्य्य!—मुझे याद है, कि कई बार पहले मैं आत्म-हत्या करने के निकट-ही पहुँच गया था, और उसे एक साधारण बात समझता था—पर उस वक़्त आत्म-हत्या करना तो दूर-किनार, उसके विचार-तक से मुझे रोमाञ्च हो आया! मैंने सोचा—'मैं क्यों ऐसा करूँ?'

इसी समय दर्वाज़ा अधिक ज़ोर-ज़ोर से खटखटाया गया। मैंने सोचा—'पहले देखूँ तो, कौन खटखटाता है, आत्म-हत्या के लिये तो बहुतेरा वक़्त मिलेगा।' मैंने द्वार खोल दिया। मेरी साली थी। कहने लगी—'वास्या, यह क्या किया?'—और उसकी आँखों से सावन-भादों की झड़ी लग गई।

"'क्या मतलब है, तुम्हारा?' मैंने कठोरता-से पूछा। मैं जानता था, कि मेरा लहजा ऐसा नहीं होना चाहिये था, पर क्या बताऊँ—और किसी तरह का लहजा, उस वक़्त सम्भव-ही न था!

"'वास्या, वह मर रही है। इवन ज़ेख़रिच कहता है।' इवन ज़ेख़रिच हमारा डॉक्टर था।

"'अच्छा वह आया है?' मैंने क्रोधित होकर कहा—'अच्छा, फिर?'

"'वास्या, उसके पास जाओ।···हाय! क्या होगया!' —उसने कहा, और रोने लगी।

"'क्या मैं उसके पास जाऊँ?'—मैंने अपने-आप से पूछा, और फिर फ़ौरन् आप-ही उत्तर दिया, कि—'हाँ, जाना चाहिये।' मैंने सोचा—'मरती-दफ़ा ज़रूर उसके पास जाना चाहिये! आत्म-हत्या के लिये तो फिर भी बहुतेरा वक़्त मिलेगा। मैं अपनी साली से बोला—'ठहरो, चलता हूँ, नङ्गे पैर हूँ, ज़रा स्लीपर पहन लूँ!'

"कार्बोलिक और आइडोफ़ॉर्म की दुर्गन्ध सब तरफ़ उड़ रही थी। मैं चुपचाप बढ़ा जारहा था, रास्ते में लिसा मिली। उसने भयभीत नेत्रों से मुझे ताका। मुझे याद पड़ता है—कि सभी बच्चे वहाँ मौजूद थे, और भय से ज़र्द पड़कर मेरी तरफ़ ताक रहे थे। मैं कमरे में घुसा। उसकी शिथिल देह सामने एक आराम-कुर्सी पर पड़ी हुई थी। इधर-उधर तकिये लगे हुए थे, और शरीर बिल्कुल निढाल और सुन्न था। घाव पर कोई दवा लगा दी गई थी। कमरे-भर में आइडोफ़ॉर्म की तेज़ गन्ध फैली हुई थी। मेरी कोहनी की मार से उसका चेहरे का कुछ अंश नीला पड़ गया था। सहसा मैं रुक गया। मेरी साली ने कहा—'जाओ, उसके पास जाओ! वह शायद तुम से कुछ बात करे!' मैंने सोचा—'शायद अपराध क़बूल करेगी। वह मर रही है, कहेगी, तो क्षमा कर दूँगा।' मैं उसके पास पहुँचा, उसने ज़ोर लगाकर अपनी आँखें खोलीं, और क्षीण स्वर में कहा—

" 'तुमने अपने मनकी कर डाली!'—मरते-मरते भी उसके मुख पर वही घृणा का भाव था,—'बच्चों को···तुम··· अपने पास न···रहने देना······वह······( मेरी साली ) ले जायगी!'

"जो बात मैं सुनना चाहता था, उस विषय में उसने एक शब्द भी न कहा।

" 'देखो, और प्रसन्न होओ ! तुमने जो किया, अच्छा किया—'

"दर्वाज़े के पास बच्चों को लिये, उसकी बहन खड़ी हुई थी। दोनों ने दोनों की तरफ़ देखा, और दोनों रो पड़ीं।

"मैंने एक बार बच्चों को देखा—और तब उसके घायल श्री-हत मुख को ! तब पहली बार मुझे अपने पैशाचिक कर्म का बोध हुआ, और मैं सिर से पैर तक सिहरकर एक बार पुक्का फाड़कर रो उठने को हुआ। मन में आया—कहूँ— 'क्षमा करो ! मुझ पापी, हत्यारे को क्षमा करो !' पर साहस न हुआ।

"वह आँखें बन्द करके चुप पड़ गई। साफ़ था; ज़ोफ़ और कमज़ोरी के कारण नहीं बोल सकती। तब सहसा उसका शिथिल शरीर हिला, और उसने बहुत-ही कमज़ोर हाथ से मुझे परे हटाया।

" 'भला क्यों तुमने ऐसा किया ? क्यों ?' उसने कहा।

" 'मुझे क्षमा करो !' मैं बोला।

" 'क्षमा ?—वाहियात ! जीना तो सब से पड़ा पाप है !' उसने ज़ोर लगाकर कहा। और उसकी आँखों में हठात् तेज़ी-सी आगई।—'बस, तुम जो कर सकते थे, सो कर चुके !……मैं तुम से घृणा करती हूँ !……आह !… आह !!'—तब वह बे-होशी में चिल्लाने लगी—'मार दो गोली !…मुझे कोई भय नहीं है !…पर बच्चों को किस के

भरोसे छोड़ते…!…इन्हें भी मार दो !…हाय ! वह तो चला गया !…’

“फिर वह बराबर बेहोश रही। दोपहर के क़रीब उसने जान देदी !

“इसके बाद मैं ग्यारह महीने जेल में रहा, और सब घटना-क्रम पर विचार किया।…जेल में जाने के तीसरे दिन-ही मैं सारा क़िस्सा समझ गया था।…ठीक तीसरे दिन !…”

वह आगे कहना चाहता था, पर उससे बोला न गया; ठहर गया, और रोने लगा। जब स्वस्थ हुआ, तो फिर कहना शुरू किया—

“जब उसे दफ़नाने गया था, तभी से सब बात समझ में आने लगी थी।”

उसने हिचकी ली, पर फ़ौरन् सम्हलकर फिर कहना शुरू किया—“मरने पर जब उसका मुँह देखा, तभी समझा—मैंने उसकी हत्या कर डाली ! तभी मैं समझा, कि मैंने वह चलता-फिरता कोमल शरीर नष्ट कर दिया; और अब वह किसी उपाय से भी जीवित नहीं किया जा-सकता। हाय ! मैं अपनी उस समय की मनो-व्यथा का वर्णन् कैसे करूँ !…हा !”—कहता-कहता वह रो पड़ा, और बहुत देर-बाद चुप होगया।

देर तक हम चुप बैठे रहे। रह-रहकर वह रो पड़ता था। चेहरे का भाव उसका बिल्कुल बदल गया था !

"जीहाँ" सहसा वह कहने लगा—"जो-कुछ मैं पीछे समझा, वह पहले समझा होता—तो सभी बातें दूसरे साँचे में ढलतीं। मैं कभी उससे ब्याह न करता…कभी ब्याह करता-ही नहीं !"

—फिर हम बहुत देर तक चुप बैठे रहे।

"अच्छा, तो नमस्कार ! देखिये—यह है, जो-कुछ मैंने किया, और जो-कुछ समझा। मैं तो कहता हूँ—कि हरेक आदमी को यह बात याद रखनी चाहिये—कि जो आदमी किसी स्त्री पर सिर्फ़ पाप की नज़र भी डालता है, वह वास्तव में व्यभिचार ही करता है। और 'किसी स्त्री' से अभिप्राय उसकी अपनी स्त्री से अतिरिक्त और स्त्रियों से नहीं, बल्कि ख़ुद अपनी स्त्री से भी है !"

—कहकर वह सीट पर लेट गया, और कपड़े से मुँह ढाँक लिया।

जब मैं उससे बिदा लेकर ट्रेन से नीचे उतरा, तो उसके चेहरे का भाव देखकर रो पड़ने को जी चाहता था !



'साहित्य-मण्डल' की पहली पुस्तक—

# षड्यन्त्रकारी

फ़ान्स के सर्व-श्रेष्ठ औपन्यासिक अलेक्ज़ैण्डर ड्यूमा की अत्युत्तम रचना Chevalier de maison Rouge का सरल हिन्दी-अनुवाद। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में प्रजातन्त्र के पवित्र नाम पर फ़ान्स में पशुता और अत्याचार का जैसा ताण्डव-नृत्य हुआ, इस उपन्यास में जादू की क़लम से उसका चित्रण किया गया है। जिस प्रकार अन्याय-पूर्ण ट्रिब्यूनल की स्थापना-द्वारा प्रजा-तन्त्र-वादियों ने निर्दोष स्त्री-पुरुषों को मौत के घाट उतारा, उसे पढ़कर पत्थर-दिल भी हिल उठेंगे!—मानों आधुनिक भारत के अन्याय-पूर्ण शासन का जीवित चित्र-ही है। एक प्रजा-तन्त्र-वादी नवयुवक एक षड्यन्त्रकारी को स्त्री के प्रेम में पड़ जाता है। षड्यन्त्रकारी फ़ान्स की अभागिनी रानी मेरी को क़ैद से छुड़ाना चाहते हैं। किस प्रकार यह प्रजा-तन्त्र-वादी क्रमशः उनका सहायक बनता है, और अन्त में, अपने मित्र लोरिन के साथ प्राण-दण्ड पाता है, यह सब देख-पढ़कर आपकी आँखों में आँसू भर आयेंगे।

उपन्यास में प्रत्येक पात्र का चरित्र इतना उज्ज्वल और पूर्ण चित्रित हुआ है, कि पढ़कर मुँह-से 'वाह-वाह!' निकल

पड़ती है। कथानक इतना मनोरञ्जक और शैली इतनी आकर्षक है, कि एक बार शुरू करने के बाद पुस्तक को समाप्त किये-बिना जी नहीं मानता। हिन्दी में इस ढङ्ग का उपन्यास आज-तक अनुवादित नहीं हुआ। प्रत्येक साहित्य-प्रेमी के काम की वस्तु है।

काग़ज़ सफ़ेद और पुष्ट, पृष्ठ-संख्या ढाईसौ, तिरङ्गा प्रोटेक्टिंग कवर, कपड़े की मनोहर जिल्द, और तीन भाव-पूर्ण चित्रों से सजी-बजी पुस्तक मूल्य केवल १॥) रुपया; स्थायी ग्राहकों से १=)



---